वहाँ हवा के साथ आयी हुई धूलि चिपकना प्रारम्भ हो जायेगी। यह ऐसा क्यों हुआ तो चिकनाहट के कारण हुआ। इसी प्रकार हमारे परिणामों की विकृति के कारण नित्य नये कर्म आते रहते हैं और परम्परा चलती रहती है। हम यदि अपने भावों की संभाल करें तो इस संतति को तोड़ सकते हैं।

तेली के बैल को कोल्हू से बांध दिया जाता है, आंखे बंद कर दी जाती हैं। बैल सोचता रहता है कि सुबह से लेकर शाम हो गयी मेरा सफर चल रहा है, शाम को कोई अच्छा स्थान मिल ही जायेगा, बहुत चल चुका हूँ पर शाम को जब पट्टी हटती है तब ज्ञात होता है कि मैं तो वहीं पर हूँ, जहाँ सुबह था। इसी प्रकार हमारी दशा है। यदि सावधान नहीं होंगे तो मोह की परम्परा कोल्हू के बैल की तरह निरंतर चलती रहेगी और हम संसार में वहीं के वहीं घूमते रह जायेंगे। अगर गौर से देखें तो अर्जित कर्म बहुत सीमित हैं और संकल्प अनन्त हैं। तेरे-मेरे का संकल्प यदि टूट जाये तो कर्म हमारा बिगाड़ नहीं कर सकते।

तूने किया विगत में कुछ पुण्य पाप, जो आ रहा है उदय में स्वयमेव आप।
होगा न बंध तबलौं जबलौं न राग, चिंता नहीं उदय से बन वीतराग।

अज्ञान दशामें मोह के वशीभूत होकर जो कर्म किया है उसका उदय चल रहा है किंतु उदय मात्र अपने लिए बंध कारक नहीं है अपितु उदय से प्रभावित होना हर्ष विषाद करना हमारे लिए बंधकारक है। उस उदय से प्रभावित होना हमारी कमजोरी है। यदि हम उदय से प्रभावित न हों तो उदय आकर जा रहा है।

मोह का कार्य भोगभूमि की जुड़वा संतान जैसा है। जब तक मोह सत्ता में है तब तक उसका कोई प्रभाव उपयोग पर नहीं है। किंतु जब उदय में आता है उस समय रागी-द्वेषी संसारी प्राणी उससे प्रभावित हो जाता है। इसलिए वह अपनी संतान छोड़कर चला जाता है। भोगभूमि काल में पल्योपम आयु तक स्त्री-पुरुष जोड़े भोग में लगे रहते हैं किंतु संतान की प्राप्ति नहीं होती। अंत में मरण से पूर्व में नियम से जुड़वा संतान छोड़ कर चले जाते हैं। यह क्रम चलता रहता है। जिनेंद्र भगवान का उपदेश इतना ही संक्षेप में है कि राग करने वाला बंधन में पड़ता है और द्वेष करने वाला भी बंधन को प्राप्त होता है किंतु वीतरागी को कोई बांध नहीं सकता।

सुख-दुख मात्र मोहनीय कर्म की परिणति है। मोह के कारण ही हम स्वयं को सुखी दुखी मान लेते हैं।

मैं सुखी दुखी मैं रंक राव, मेरे गृह धन गोधन प्रभाव।
मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीण॥

यह अज्ञानता ही संसार का कारण है। जीव रंक राव आदि रूप नहीं है फिर भी इस रूप स्वयं को मानता चला जा रहा है। 'पर' में सुख मानना ही परिग्रह को अपनाना है और 'स्व' में सुख मानना ही परिग्रह से मुक्त होना है।

अरब देश से एक बार कुछ श्रीमान यहाँ भ्रमण हेतु आये। ऐसा कहीं किसी से सुना था। वे यहाँ किसी रेस्ट हाउस में ठहर गये। वहाँ उनका सब प्रकार का प्रबंध था। गर्मी का मौसम था इसलिए दिन में तीन बार भी स्नान की व्यवस्था थी। अरब देशों में पानी की बड़ी कमी रहती है। यहाँ इतना पानी देखकर एक व्यक्ति को उनमें से बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने टूँटी को थोड़ा घुमाया तो तेजी से पानी आता देखकर सोचने लगा कि अरे यह तो बहुत अच्छा है। टूंटी से पानी आता है। उसने नौकर को बुलाकर पूछा कि ऐसी टूंटी और मिल जायेंगी। नौकर ने कहा कि हाँ मिल जायेंगी। पर आप क्या करेंगे? व्यक्ति बोला पानी के काम आयेगी। नौकर समझ गया कि यह व्यक्ति धोखे में है। उसने कहा कि टूंटी मंहगी मिलेगी, हमारे पास और भी हैं पर प्रत्येक का सौ रूपया लगेगा।

उस व्यक्ति ने दस बीस टूंटी खरीद कर रख लीं। रात में जब सब साथी सो गये तो उसने चुपके से एक टूंटी निकली और उसे घुमाया पर उसमें से पानी नहीं निकला। सोचने लगा कि बात क्या हो गयी। दूसरी टोंटी को परखा फिर वहीं बात। एक-एक करके सारी टूंटियाँ परख ली पर पानी किसी में से नहीं आया। एक पास में लेटा-लेटा सब देख रहा था। उसने कहा कि यह क्या पागलपन कर रहे हो। वह व्यक्ति बोला कि मेरे साथ धोखा हो गया। टूंटी में से पानी आता देखकर मैंने सोचा कि अपने यहाँ पानी की कमी है, टूंटी खरीद लें तो वहाँ पर पानी ही पानी हो जायेगा। तब उस व्यक्ति को समझाया उसके साथी ने कि भइया, टूंटी में पानी थोड़े ही है पानी तो टंकी में था। उसी में से उसमें आ रहा था। पानी इसमें नहीं है इसमें से होकर आता है।

इसी प्रकार सुख इस शरीर में नहीं है, बाहरी किसी सामग्री में नहीं है। आप टूंटी वाले की अज्ञानता पर हंस रहे हैं। आपने भी तो टूंटियाँ खरीद रखी हैं इस आशा से कि उनसे सुख मिलेगा। प्रत्येक व्यक्ति ने कुछ न कुछ

खरीद रखा है और उसके माध्यम से सुख चाहता है। शान्ति चाहता है। मकान एक टूंटी, फ्रिज एक टूंटी। आप लोगों ने टूंटियाँ खरीदने में ही जीवन व्यतीत कर दिया। इनमें से सुख थोड़े ही आने वाला है यदि आता तो आ जाता आज तक। आप दूसरे के जीवन की ओर मत देखो। हमारा अपना जीवन कितना मोहग्रस्त है यह देखो। सुख अपने भीतर है। सुख इन बाह्य वस्तुओं (टूंटियों) में नहीं है। सुख का सरोवर अंदर लहरा रहा है उसमें कूद जाओ तो सारा जीवन शांत और सुखमय हो जाये। अंत में मैं आपको यही कहना चाहूँगा कि यह स्वर्णिम अवसर है मानव के लिए, उन्नति की ओर जाने के लिए, आप सब बाह्य उपलब्धियों को छोड़कर एक बार मात्र अपनी निज सत्ता का अनुभव करें इसी से सुख और शान्ति की उपलब्धि हो सकती है। दुनिया में अन्य कोई भी वस्तु सुख-शान्ति देने वाली नहीं है। सुख-शान्ति का एकमात्र स्थान परिग्रह से रहित आत्मा है।

□□

अचौर्य

जिन्होंने इस विश्व का समस्त ज्ञान प्राप्त कर लिया ऐसे सर्वज्ञ वीतराग और हितोपदेशी भगवान ने हमारे आत्म कल्याण के लिए एक सूत्र दिया है वह है अस्तेय या अचौर्य व्रत। 'स्तेय' कहते हैं अन्य पदार्थों के ऊपर अधिकार जमाने की आकांक्षा अथवा 'पर' पदार्थों पर आधिपत्य रखने का वैचारिक प्रयास जो कभी संभव नहीं है फिर भी उसे संभव बनाने का मिथ्या-भाव। चोरी का सीधा सा अर्थ है 'पर' का ग्रहण करना। इस बात को हमें स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि 'स्व' के अलावा 'पर' के ऊपर हमारा अधिकार नहीं हो सकता। 'स्व' क्या है 'पर' क्या है जब तक यह ध्यान नहीं होगा और 'पर' को हम जब तक 'स्व' बनाने का प्रयास करते रहेंगे तब तक इस संसार से निस्तार संभव नहीं है।

हम 'स्व' को पहचान नहीं पा रहे हैं। विस्मृति प्रत्येक संसारी जीव को 'स्व' की ही हुई है। 'पर' की विस्मृति आज तक नहीं हुई। 'पर' को हमने कभी 'पर' नहीं माना, 'पर' को 'पर' समझना अत्यंत आवश्यक है। 'पर' को 'स्व' मान लेना या 'पर' जानते हुये भी उसे अपना लेने का भाव ही चोरी है। आप अपने को साहूकार मानते हैं तो सच्चा साहूकार तो वही है जो ऐसे भाव नहीं लाता जो पर की चीजों पर दृष्टिपात भी नहीं करता, अपना आधिपत्य जमाने का रंचमात्र भी प्रयास नहीं करता। आत्मा के पास ज्ञान-दर्शन रूप उपयोग है। जानने देखने की शक्ति है, भगवान तीन लोक को स्पष्ट जानते-देखते हैं। लेकिन हमारे जानने-देखने और उनके जानने-देखने में बहुत अंतर है। हमारी दृष्टि में मात्र देखना नहीं है; हमारी दृष्टि में पदार्थ को लेने के भाव हैं, प्राप्ति के भाव हैं और उनकी दृष्टि में मात्र दर्शन है।

एक दार्शनिक ने जगत के बारे में लिखा है कि दूसरा जो भी है वही दुख है वही नरक है। भगवान महावीर स्वामी ने पहले कह दिया था कि दूसरा नरक नहीं है बल्कि दूसरे को पकड़ने की जो भाव दशा है वह हमारे लिए दुख और नरक का कारण बनती है। पकड़ना चोरी, ग्रहण का भाव करना चोरी है। किसी का होना या किसी को जानना चोरी नहीं है। जब तक हमारी दृष्टि लेने के भाव से भरी हुई है वह निर्मल दृष्टि नहीं है।

लौकिक क्षेत्र में चोरी करना एक बहुत बड़ा पाप माना गया है और चोरी करने वाला सज्जन या नागरिक नहीं कहलाता, उसे सभी चोर कहते हैं। इस राजकीय कानून से डरकर आप राजकीय सत्ता के अनुरूप चल देते हैं किंतु चोरी से बचते नहीं है, कोई न कोई पगडंडी निकाल लेते हैं। तब भले ही कानून आपको दंडित नहीं कर पाता किंतु सैद्धान्तिक रूप से आप दण्डित हैं। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने अभिनंदन भगवान की स्तुति करते हुए लिखा है कि हे भगवान! यह संसारी प्राणी राजा के भय से, माता-पिता या अपने से बड़ों के भय से, बलवानों के भय से अन्याय अत्याचार और पाप तो नहीं करता किंतु करने का भाव भी नहीं छोड़ता। ऊपर से भले ही बच जाता है पर अंदर से भावों में नहीं बच पाता।

राजकीय सत्ता का अधिकार मात्र अपराध के ऊपर है और वह अपराधी को दंडित भी करती है लेकिन अपराधी के भावों के ऊपर उसका भी अधिकार नहीं चलता। भावों पर अधिकार चलाने वाला तो स्वयं हमारा कर्म है। कर्म की शक्ति आणविक शक्ति से भी अधिक है। वह कर्म आपके चारों ओर हैं, गुप्तचरों की तरह, जहाँ कहीं भी आपका स्खलन देखने में आया, वहीं आपको बंधन में डाल देता है। राजकीय सत्ता तो मात्र हाथ पैर में बेड़ी डालती है, तालों में बंद कर सकती है किंतु कर्म आपकी आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर अपना अधिकार जमा लेते हैं। आप बचकर नहीं जा सकते। यह भाव-दंड निरंतर मिलता रहता है। आप वर्तमान में मात्र सांसारिक जेल में न जाना पड़े, उससे बचने का उपाय करते हैं किन्तु वास्तविक रुप में जब तक भावों द्वारा बुरे कार्य से नहीं बचेगें तब तक साहूकार नहीं कहलाएंगे भावों के द्वारा चौर्य कार्य से न बचें तभी साहूकार कहलायेंगे और साहूकारी का मजा भी आपको तभी मिल पाएगा।

आप अभी मात्र बाहर से बच रहे हैं। राज्य सत्ता भी बचने के लिए बाध्य कर रही है लेकिन आप कहीं न कहीं से पगडंडी निकालकर भावों के द्वारा चोरी कर रहे हैं। महाराज! बिना चोरी के तो आज कार्य चल ही नहीं सकता, कई लोगों से ऐसा सुना मैंने, सुनकर दंग रह गया मैं। आपने इस चौर्य कर्म को इतना फैला लिया कि इसके बिना अब काम ही नहीं चलता एक प्रकार से यह राजमार्ग ही बन गया। ऊपर से आप कह रहे हैं कि चोरी करना पाप है और अंदर क्या भावों में घटाटोप छाया है यह तो आप ही जानते हैं। यह ठीक नहीं है।

एक समय की बात है। एक ब्राह्मण प्रतिदिन नदी पर स्नान करने जाया करता था। एक दिन उसकी पत्नी भी उसके साथ गई। ब्राह्मण स्नान करने के बाद सूर्य के सामने खड़े होकर रोज की भांति जल समर्पण करने लगा। मुख से उच्चारण करने लगा कि 'जय हर हर महादेव, जय हर हर महादेव और मन में जो है सो है ही' यह समझ में नहीं आया। पास ही स्नान करते हुए एक मित्र ने पूछा कि भैया आज क्या बात है? यह जय हर हर महादेव के साथ आप क्या कह रहे हैं? वह ब्राह्मण हंसने लगा, बोला, कुछ खास नहीं भइया, मैं प्रतिदिन जय हर हर गंगे, हर हर गंगे कहता था पर आज मेरी पत्नी भी साथ में आयी है और उसका नाम गंगा है इसलिए आज कैसे कहूँ? इसलिए कहता हूँ कि जय हर हर महादेव मन में जो है सो है ही।

आप भी यही कह रहे हैं ऊपर से कह रहे हैं कि हम चोरी नहीं करेंगे पर भीतर करे बिना नहीं रहेंगे क्योंकि मन में जो है सो है ही। मात्र बाहर से छोड़ना, छोड़ना नहीं है अंदर से छूटना चाहिये। हम दूसरे पदार्थ का ग्रहण नहीं कर सकते इसलिए उसका विमोचन भी नहीं कर सकते- यह कहने में आता है किंतु वस्तु व्यवस्था इतनी आसान नहीं है, वस्तुतः हम किसी पर पदार्थ का ग्रहण नहीं कर सकते किंतु वैभाविक दशा में भावों के माध्यम से ग्रहण किया जाता है। जिस समय ग्रहण का भाव आता है उसी समय कर्म का बंधन हो जाता है। इस बंधन को समझना चाहिये। राज्य-सत्ता आपके शरीर और वाणी पर नियंत्रण रखती है लेकिन कर्म की सत्ता आपके भावों का भी ध्यान रखती है। जो इन दोनों के बीच अपने को साहूकार बनाने में लगा है वह जिनेंद्र भगवान के मार्ग का प्रभावक है और अपनी आत्मा का भी उत्थान कर रहा है।

बाह्य और अभ्यंतर ये दोनों कार्य अनिवार्य हैं। बाहर से तो जेल से बचना ही है पर अंदर से भी जब तक नहीं बचेंगे तब तक हमारी निधि क्या है, यह आप लोगों को विदित नहीं हो पायेगा। कर्म सिद्धांत को जानकर अपना आचरण करना चाहिये। कारागृह मात्र बाहर नहीं है, जहाँ कहीं मलिन भाव है वहीं पर कारागृह है। और कारागृह में रहने वाला तो अपराधी है। हम जब यहाँ आये तो एक व्यक्ति ने कहा कि महाराज! आप जयपुर आये हैं तो एक प्रवचन यहाँ कारागृह में भी दें तो अच्छा रहेगा। मैं सोच में पड़ गया कि क्या यह कारागृह नहीं है? संसार भी तो कारागृह है, यह देह भी तो कारागृह है। जो इसे कारागृह नहीं समझता वह भूल में है। आप मात्र बाहर राज्य के द्वारा निर्मित जेल को जेल मानते हैं किंतु वास्तव में आत्मा के

विपरीत परिणमन ही जेल है। जब तक यह बात समझ में नहीं आयेगी तब तक आत्मा लुटती जायेगी हम अपराधी बने रहेंगे, दरिद्र और दीन होकर भटकते रहेंगे। आप आत्मा को इस कारागृह से निवृत करने का प्रयास करें।

'छूटे भव-भव जेल' भव-भव में जो परिभ्रमण करना पड़ रहा है वह जेल है। चारों गतियाँ क्या जेल नहीं हैं? दूसरे को जो, बाहरी जेल में कैद है उसे कैदी कहने से पहले सोचना चाहिये कि मैं स्वयं कैदी हूँ। यह देह रूपी कैद ही हमारे कैदी और अपराधी होने की प्रतीक है। अनादिकाल से हम अपराध करते आ रहे हैं, आज तक इस संसार रुपी विस्तृत जेल से छूटने का भाव नहीं किया। प्रत्येक समय गलती करते जा रहे हैं। यह भी नहीं समझ पा रहे हैं कि 'हम अपराधी हैं' या नहीं। जब तक कहीं कोई एक अपराधी रहता है तब तक वह अनुभव करता है कि हां मैं अपराधी हूँ, मैंने अपराध किया है, मैं अपराध का यह दंड भोग रहा हूँ। लेकिन जब अपराधियों की संख्या बढ़ जाती है तो उनमें भी मजा आना प्रारम्भ हो जाता है। भूल जाते हैं कि मैं अपराधी हूँ।

भाई, शरीर को कारागृह समझो। बहुमत हो जाने से सत्य को मत भूलो। सत्य की पहचान बहुमत के माध्यम से नहीं होती, सत्य की पहचान भावों के ऊपर आधारित है। इसलिए सत्य को पाने के लिए अहर्निश अपने परिणामों को सुधारने का प्रयास करना चाहिये। बाहरी स्थिति में साहूकार होना, अपनी स्थिति सुधारना ठीक है किंतु इतना सा ही हम लोगों का धर्म नहीं है। इस बाहरी साहूकारी से हम लोग एक भव में कुछ इन्द्रिय सुख भले पा लेंगे, यश ख्याति मिल जायेगी किंतु जो विकारी परिणति है उसे हटाये बिना हम अनंत आनंद की अनुभूति नहीं कर सकेंगे। यह भवभ्रमण मिटने पर ही आनंद की अनुभूति होना प्रारम्भ होगी।

अध्यात्म में 'पर' वस्तु के ग्रहण का भाव ही चोरी माना गया है। ग्रहण का संकल्प पूर्ण हो या न हो, उसके विचार साकार हों या न हों पर मैं ग्रहण करूँ इस प्रकार का भाव ही चोरी है। प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व भिन्न है उस अस्तित्व पर हमारा अधिकार संभव नहीं है यह समझना प्रत्येक संसारी प्राणी के लिए अनिवार्य है। भावों में प्रत्येक स्वतंत्र है। लौकिक जेल में रहने वाला भी भाव के माध्यम से निरंतर चोरी कर सकता है। पराई वस्तु पर दृष्टि भले ही जाये पर उसे ग्रहण करने का भाव न हो तो अचौर्य वहाँ पर है। भगवान की स्तुति करते हुए लिखा है कि-

सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानंद रसलीन।
सो जिनेंद्र जयवंत नित, अरिरज रहस विहीन॥

भगवान ने विश्व को जाना, विश्व के समस्त ज्ञेयरूप पदार्थों को जाना किंतु आनंद की अनुभूति विश्व में नहीं की, निज में की।

आप दूसरे पदार्थों में लीन हैं और समझ रहे हैं कि बहुत सुखी हो गये हैं। हमारा ज्ञान भी सकल न होकर 'शकल' को जानने वाला है। 'शकल' का अर्थ है टुकड़ा अर्थात् थोड़ा सा शकल अर्थात् ऊपर का आकार इतना ही हम जानते हैं। यह अपूर्ण ज्ञान भी हमारे लिये भले ही बाहर से संतुष्टि दे लेकिन भीतर संतुष्ट नहीं कर पाता। हमारा ज्ञान और आनंद ऐसा है कि 'सकल' ज्ञेय ज्ञायक तदपि धनानंद रसलीन'। यही कारण है कि हमारी आत्मा लुटती जा रही है। सत्य जीवन से खोता जा रहा है। सत् का कभी विनाश नहीं होता लेकिन सत् का विभाव रूप परिणमन होना ही सत् का खोना है। जो सत्य का अनुपालन करेगा वह स्तेय-कर्म को नहीं अपनायेगा। जो अपने सत् को पा लेगा वह परायी सत्ता पर अधिकार का भाव क्यों करेगा?

एक-उदाहरण सुना था, यद्यपि वृतांत लौकिक है किंतु उस लौकिकता के माध्यम से भी परलौकिक सिद्धांत की ओर दृष्टि जा सकती है। एक व्यक्ति रोगी था। मस्तिष्क का कोई रोग था। बहुत दिन से पीड़ा थी। इलाज के लिए उसने बहुत सा पैसा चोरी, झूठ आदि करके, अन्याय करके एकत्रित किया और अस्पताल में भर्ती हो गया। मस्तिष्क का ऑपरेशन हुआ। शल्य चिकित्सा अच्छी हुई। मित्रों ने पूछा कि क्यों भाई ठीक हो? उसने कहा कि पहले से बहुत अच्छा हूँ, बहुत आराम है। अचानक डॉक्टर ने कहा, क्षमा करिये हमने ऑपरेशन तो ठीक कर दिया पर मस्तिष्क तो बाहर ही रह गया। हालांकि ऐसा संभव नहीं है पर व्यंग जैसा है। तब रोगी कहता है कि कोई बात नहीं उसके बिना भी काम चल जायेगा। क्योंकि मैं सरकारी नौकरी करता हूँ।

यह सुनकर-पढ़कर मुझे लगा कि देखो किस तरह हम अपने कर्त्तव्य से च्युत हो रहे हैं। डॉक्टर और मरीज दोनों सरकारी सेवा में हैं लेकिन कोई अपना कार्य सुचारू रूप से नहीं करता। यह काम चोरी है। इस तरह करने वाला कभी सत्य और अस्तेय दोनों को नहीं पा सकता। ऐसी स्थिति में साहूकार नहीं हुआ जा सकता। आज तो लोग चोरी करते हुए भी स्वयं को साहूकार मान रहे हैं, ज्ञायक और शुद्ध चैतन्य पिंड मान रहे हैं जिसमें 'पर'

का किसी प्रकार से भी सद्भाव नहीं है। अंधाधुंध चोरी चल रही है और कह रहे हैं जो कुछ होता है कर्म की देन है, आत्मा बिल्कुल अबद्ध, असंपृक्त और अस्पृष्ट है। आत्मा अपने में है, 'पर' में है, प्रत्येक का द्रव्य भिन्न, स्वभाव भिन्न है। इस प्रकार एकांत से मानना, निर्णय ले लेना क्या ठीक है? क्या यह सचाई है? यह तो एक प्रकार की कायरता है। एक प्रकार से पुरुषार्थ विमुख होना है।

मानव होकर भी हमारा जीवन 'पर' में चल रहा है। इस प्रकार का जीवन तो तिर्यंच भी व्यतीत करते रहते हैं। मात्र जीवन को चलाना नहीं है जीवन अपने आप अनाहत चल रहा है। जीवन को उन्नति की ओर बढ़ाने में ही मानव जीवन की सफलता है। यह सत्य और अचौर्य की उन्नति की खुराक है। जीवन तो असत्य से भी चल सकता है, चोरी के साथ भी चल सकता है किंतु वह जीवन नहीं भटकन है। यदि उन्नति चाहिये, विकास चाहिये, उत्थान चाहिये तो अपनी आत्मा को अपराध से मुक्त करने का प्रयास करना होगा। चाहे कल करो या आज-विकारों से रहित वीतरागता की अनुभूति के बिना सर्वज्ञत्व की प्राप्ति संभव नहीं हैं।

अनादिकाल की पीड़ा तभी मिटेगी। जब हम पाप भाव से मुक्त होकर आत्म-स्वभाव की ओर बढ़ेंगे। पीड़ा सिर्फ इतनी नहीं है कि भूख लग आई या धन नहीं हैं, मकान दुकान नहीं है वस्तुतः, पीड़ा यह है कि हमारा ज्ञान अधूरा है और हम समझ रहे हैं कि हम पूर्ण हैं। प्रत्येक व्यक्ति समझता है कि मैं साहूकार हूँ। ठीक है। क्या चोरी के त्याग का संकल्प लिया है? यदि त्याग का संकल्प नहीं है तो 'पर' के ग्रहण का भाव अवश्य होगा। 'पर' के ग्रहण का भाव छोड़े बिना कोई साहूकार नहीं हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे को चोर मान रहा है और स्वयं को साहूकार सिद्ध करता है। यह तो चोर के द्वारा चोर को डांटने जैसा हुआ। अपनी चोरी की गलती को पहचान करके उसे छोड़ने का प्रयास करना चाहिये। जिस जीव के चोरी के भाव रहते हैं उसी जीव को चोर कहा जाता है। जिस क्षण छोड़ने के भाव हैं उस क्षण वह साहूकार है।

आप चोर से नहीं बल्कि चौर्य भाव से बचिये। पापी से नहीं पाप से घृणा करिये। अनादिकाल से चोरी का कार्य जिसने किया है तो भी यदि आँख खुल गई, अब यदि दृष्टि मिल गयी, ज्ञात हो गया कि अभी तक अनर्थ किया है अब उसे छोड़ता हूँ, अब चोरी से निवृत्ति लेता हूँ तो वह अब चोर नहीं है। आप संसारी कब तक कहलायेंगे? जब तक संसार के कार्य करते

रहेंगे। जब उनको छोड़ देंगे, वीतराग बनकर विचरण करेंगे तो मुक्त कहलायेंगे। इसलिए यदि चोर की चोरी छुड़ानी है तो उसे चोर मत कहो बल्कि उसे समझाओ कि तुम्हारा यह कार्य ठीक नहीं है। तुम्हारा कर्त्तव्य है कि चोरी से मुक्त होओ। यदि हम उसे डाटेंगे तो सुधरने की संभावना कम है। प्रत्येक समय भावों का परिणमन हो रहा है। संभव है उस समय भयवश वह चोरी के भाव छोड़ दें, बाद में पुनः बड़ा चोर बन जाये। उसे इस तरह कुछ कहा जाये कि वह स्वयं ही चौर्य भाव को बुरा मानकर छोड़ दें।

भगवान महावीर ने हमें यही कहा कि प्रत्येक व्यक्ति में प्रभुत्व छिपा है जैसा मैं निर्मल हूँ वैसे ही आप भी उज्ज्वल बन सकते हैं, राग का आवरण हटाना होगा। जैसे स्फटिक मणि धूल में गिर जाये और पुनः उसे उठाकर धूल साफ कर दें तो चमकती हुई नजर आयेगी। ऐसी ही हमारी आत्मा है। धूल में पड़ी है, उसे उठाकर चमकाना है। एक बात और ध्यान रखना कि दूसरे को चोर कहने का तब तक हमारा अधिकार नहीं है जब तक हम साहूकार न हो जायें। इस तरह लगेगा कि सारी लौकिक व्यवस्था ही बिगड़ जायेगी। मैं बाह्य व्यवस्था फेल करने के लिए नहीं कह रहा हूँ बल्कि अपने आप को चोरी से मुक्त करके पूर्ण साहूकार बनने के लिए कह रहा हूँ। मात्र बाहर से नहीं, अंदर आत्मा में साहूकार बनो।

जब यह रहस्य एक राजा को विदित हुआ तो वह राजा अपनी सारी सम्पदा व परिवार को छोड़कर जंगल को चले गये। किसी से कुछ नहीं बोले और घने जंगल में जाकर आत्मलीन हो गये। जो ग्रहण का भाव था मन में, वह भी सब राजकीय सत्ता को छोड़ते ही छूट गया। वे सभी से असंपृक्त हो गये। बहुत दिन व्यतीत हो गये। एक दिन परिवार के लोगों को उनके दर्शन के भाव जागृत हुए और दर्शन करने चल पड़े। संकल्प कर लिया था इसलिए रास्ता कठिन होने पर भी पहुँच गये। चलते-चलते मिल गये मुनि महाराज। देखते ही उल्लास हुआ। बीते दिन की स्मृति हो आयी। पत्नी सोचती है कि देखो वे ही राजा, वही पतिदेव, वही तो हैं 'सब कुछ छोड़ दिया, कोई बात नहीं' जीवित तो हैं। माँ सोचती है मेरा लड़का है अच्छा कार्य कर रहा है।

सभी प्रणिपात करते हैं चरणों में। मुनि महाराज सभी को समान दृष्टि से आशीष देते हैं। सभी को इच्छा थी कि कुछ बोलेंगे। पर वे नहीं बोले। सभी ने सोचा कोई बात नहीं मौन होगा। सभी नमोस्तु कहकर वापिस चलने को हुए पर आगे रास्ता विकट था इसलिए माँ ने कहा कि महाराज? आप तो

मोक्षमार्ग के नेता हैं, मोक्षमार्ग बताने वाले हैं। लेकिन अभी मात्र इस जंगल से सुरक्षित लौटने का मार्ग बता दें। मुनिराज निर्विकल्प रहे और मौन नहीं तोड़ा। मौन मुद्रा देखकर माँ ने सोचा कोई बात नहीं, यही मार्ग ठीक दीखता है और सामने के मार्ग पर चले गये। कुछ दूर बढ़ने के उपरांत एक चुंगी चौकी थी, जो अब डाकुओं के रहने का स्थान बन गया था। राजघराने को देखकर डाकुओं ने रोक लिया और कहा कि जो कुछ भी तुम्हारे पास है वह रखते जाओ। वह माँ, पत्नी, लड़का सभी दंग रह गये, घबरा गये।

माँ बोली- अरे! यह तो अन्याय हो गया। अब कहीं भी धर्म नहीं टिकेगा। अब कहीं भी शरण नहीं है। हमने तो सोचा था, हमारा लड़का तीन लोक का नाथ बनने जा रहा है वह मार्ग प्रशस्त करेगा, आदर्श मार्ग प्रस्तुत करेगा, दयाभाव दिखायेगा और वही इतना निर्दयी है कि यह भी नहीं कहा कि इस रास्ते से मत जाओ, आगे डाकुओं का दल है। ओहो! काहे का धर्म, काहे का कर्म। धिक्कार है ऐसे पुत्र को। जिसने अपनी मां के ऊपर थोड़ी भी करुणा बुद्धि नहीं रखी, वह क्या तीन लोक के ऊपर करुणा कर सकेगा। ठीक ही कहा है कि संसार में कोई किसी का नहीं है। डाकुओं का सरदार सारी बात सुनता रहा और अपने साथियों से कहा कि इन लोगों को मत छेड़ो। फिर उस माँ से पूछा कि माँ तू क्या कह रही है? यह अभिशाप किसे दे रही है। माँ कहती है कि मैं आपके लिए नहीं कह रही हूँ। मैं तो उसके लिए कह रही हूँ जिसे मैने जन्म दिया, जो यहाँ से कुछ दूरी पर बैठा है वह नग्न साधु। वही था मेरा लड़का। घर छोड़कर आ गया। जब तक घर पर था प्रजा की रक्षा करता था, यहाँ पर आ गया तो माँ को भी भूल गया। थोड़ा भी उपकार नहीं किया। रास्ता तक नहीं बताया कि कौन-सा ठीक है।

सरदार सारी बात समझ गया। उसने कहा ''माँ! हम सभी डाकू अभी इसी रास्ते से आये थे, रास्ते में नग्न साधु मिला था, उसे पत्थर मारकर नंगा कहकर चले आये थे, उस समय भी उसके मुख से वचन नहीं निकले थे। शांत बैठा था। सचमुच वह बड़ा श्रेष्ठ साधु है। हमने गाली दी थी और आप उसकी माँ थी, आपने प्रणिपात किया था चरणों में। उसने हमारे लिए अभिशाप नहीं दिया और आपके लिए वरदान नहीं दिया''। इतना कहकर उस डाकुओं के सरदार ने पहले माँ के चरण छू लिये और बोला कि 'धन्य हो माँ! जो आपकी कोख से इस प्रकार का पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ जिसकी दृष्टि में संसार में सभी के प्रति समान भाव हैं ऐसे व्यक्ति का मैं अवश्य दुबारा दर्शन करूँगा जिस व्यक्ति की दृष्टि में समानता आ जाती है वह व्यक्ति सामने वाले वैषम्य भाव को भी श्रद्धा के रूप में परिणत कर देता है। वे सभी डाकू

लोग मुनिराज के पास चले गये और नतमस्तक होकर कहा कि हमें भी अपना शिष्य बना लीजिये और समर्पित हो गये।

डाकू भी जब रहस्य को समझ लेते हैं तो डाकूपन को छोड़ देते हैं। माँ सोचती है 'यदि मुनिराज उस समय मुझे रास्ता दिखाते तो ये डाकुओं का दल दिगम्बरी दीक्षा नहीं ले पाता। उनका वह मौन, उनकी वह समता दया-शून्य नहीं थी। वह तो समता मुद्रा थी जिसमें प्राणी मात्र के लिए अभय था।' पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि 'अवाक् विसर्ग वपुषा निरूपयन्तं मोक्षमार्ग- वह नग्न दिगम्बर मुद्रा ऐसी है जो मौन रहकर भी सारे विश्व को मोक्षमार्ग का उपदेश देती है, सही मार्ग दिखाती है। चोर और साहूकार सभी के प्रति समता भाव जागृत होना चाहिये। क्योंकि चोर और साहूकार यह तो लौकिक दृष्टि से हैं। अंदर सभी के वही आत्मा है, वही चेतन है, वही सत्ता है जिसमें भगवान बनने की क्षमता है ऊपर का आवरण हट जाये तो अंदर तो वही है। राख में छिपी अग्नि है। राख हटते ही वही उजाला, वही उष्णता है जो विकारों को जला देती है। इस घटना में समझने योग्य है उन मुनिराज की समता, उस माँ की ममता और उन डाकुओं की क्षमता जो जीवन भर के लिए डाकूपने का त्याग कर साधुता के प्रति समर्पित हो गये।

डाकू मात्र जंगल में ही नही हैं, डाकू यहाँ भी हो सकते हैं। जिसके भीतर दूसरे को लूटने, दूसरे की सामग्री हड़पने या 'पर' को ग्रहण करने का भाव है उसे क्या कहा जायेगा? आप स्वयं समझदार हैं। बंधुओ! समता भाव आये बिना हम महावीर भगवान को पहचान नहीं पायेंगे। राग की दृष्टि, व्यसन की दृष्टि कभी वीतरागता को ग्रहण नहीं कर सकती। उसे वीतरागता में भी राग दिखाई पड़ेगा लेकिन जिस व्यक्ति की दृष्टि वीतराग बन गयी उसकी दृष्टि में राग भी वीतरागता में ढल जाता है।

संसारी जीव यद्यपि पतित है लेकिन पावन बनने की क्षमता रखता है। स्वयं पावन बनकर दूसरों को भी पावन बनने का मार्ग दिखा सकता है। हमारी दृष्टि में समता आ जाये, हमारी परिणति उज्ज्वल हो और इतनी सुंदर हो कि जगत् को भी सुंदर बना सकें। सही दिग्दर्शन करके प्राणी मात्र के लिए आदर्श बना दें। इसके लिए पुरुषार्थ आपेक्षित है, त्याग आपेक्षित है, इसके लिए सहिष्णुता, समता, संयम और तप आवश्यक हैं, अस्तेय महाव्रत समता का उपदेश देता है। चोर को चोर न कहकर उसे साहूकार बनना सिखाता है। यही इसकी उपयोगिता है। इसे अपने जीवन में अंगीकार करके आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना चाहिये। □□

प्रवचन परिजात-

जीव-अजीव तत्त्व

सात तत्त्वों में जीव तत्त्व को प्रथम स्थान मिला है। प्रथम स्थान क्यों मिला, इसकी व्याख्या करते हुए आचार्यों ने लिखा है कि प्रत्येक तत्त्व का भोक्ता जीव ही है। भोक्ता का अर्थ यहाँ संवेदन करना है। मुक्ति जो भी मिलेगी वह जीव तत्त्व को ही मिलेगी क्योंकि वही मुक्ति का संवेदन कर सकता है। अजीव तत्त्व को मुक्ति मिलने, ना मिलने का प्रश्न ही नहीं है क्योंकि वह संवेदन-रहित है।

हम जीव होते हुए भी मुक्त नहीं है, यह बात विचारणीय है। आचार्य अमृतचंद्र जी 'पुरुषार्थ-सिद्धयुपाय' ग्रंथ के प्रारम्भ में मंगलाचरण करते हुए कहते हैं कि वह परम ज्योति जयवंत रहे जिस ज्योति में संसार के समस्त पदार्थ अपनी भूत, भावी, एवं वर्तमान समस्त पर्यायों सहित स्पष्ट झलक रहे हैं। यहाँ गुणों की आराधना की गयी है। वास्तव में, जब हम गुणों की आराधना करते हैं तो गुणी की आराधना अपने आप हो जाती है। आराधना जीवत्व गुण के ऊपर अवलंबित है।

हम सभी जीव हैं फिर भी हमारी आराधना नहीं हो रही है बल्कि आराधना के स्थान पर विराधना हो रही है। कारण स्पष्ट है कि हमारे पास जीवत्व होते हुए भी जिस जीवत्व की आवश्यकता है उसका अभाव है। जिस गुण के द्वारा आराधना होती है वह गुण हमारे पास नहीं है। आप पूछ सकते हैं कि गुणों का अभाव हो जायेगा तो द्रव्य का ही अभाव हो जायेगा महाराज! तो भइया, गुणों का अभाव तो नहीं होगा, यह तो सभी जानते हैं। लेकिन गुणों का विलोम हो जाना भी एक प्रकार से अभाव हो जाना है। जीव के गुणों की विशेषता है कि वे अभाव को तो प्राप्त नहीं होते किन्तु विलोम हो जाते हैं।

हमारे पास जीवत्व गुण है लेकिन ध्यान रखिये यह जीवत्व विलोम स्थिति में है, उसका परिणमन विलोम रूप में हो रहा है। आचार्य कहते हैं 'स्वभावात् अन्यथा भवनं विभावः' अर्थात् स्वभाव से विपरीत परिणमन होने का अर्थ ही है विभाव। रात और दिन का जिस प्रकार विरोधाभास है उसी

प्रकार स्वभाव और विभाव के साथ भी हो रहा है। रात है तो दिन नहीं और दिन है तो रात नहीं। उसी प्रकार स्वभाव रूप परिणमन है तो विभाव नहीं और विभाव रूप परिणमन है तो स्वभाव नहीं।

वर्तमान में हमारे स्वभाव का अभाव और विभाव रूप परिणमन होने के कारण विराधना हो रही है। अतः अपने को उस जीवत्व को प्राप्त करना है जिस जीवत्व के साथ स्वाभाविक जीवन है। वह जीवत्व किसे प्राप्त हो सकता है! वह जीवत्व कैसे प्राप्त हो सकता है? क्या हमें प्राप्त हो सकता है। तो आचार्य कहते हैं कि अवश्य प्राप्त हो सकता है। जिन कारणों से विभाव रूप परिणमन हुआ है, हमने किया है यदि उसके विपरीत कारण मिल जाएं तो जीव स्वभाव रूप परिणमन भी कर सकता है।

यह ध्यान रक्खो कि विभाव रूप परिणमन किसी अन्य शक्ति ने या अन्य व्यक्ति ने जबरदस्ती कराया हो, ऐसा नहीं है। जीव स्वयं ही अपने परिणामों के द्वारा विभाव रूप परिणमित होता है और इसके लिए बाह्य द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि निमित्त अवश्य बनते हैं। आशय यह हुआ कि वर्तमान में हमारा जीव तत्त्व बिगड़ा हुआ जीव तत्त्व है।

आप यह कह सकते हैं कि कुछ समझ में नहीं आता महाराज! कुछ लोग तो कहते हैं कि जीव तो जैसा-का-तैसा बना रहता है और उसमें जो परिणमन होता है वह ऊपर-ऊपर हो जाता है। इसलिए जीव तो शुद्ध है क्योंकि द्रव्य है और उसकी पर्याय जो है वह बिगड़ी हुई है, भइया, ध्यान रखो कि जीव तत्त्व ज्यों का त्यों बना रहे शुद्ध और उसकी पर्याय अशुद्ध हो, ऐसा हो नहीं सकता। यदि ऐसा हो जाए तो वे पर्यायें उस विशुद्ध तत्त्व से बिल्कुल पृथक् हो जायेंगी जो कि संभव ही नहीं है 'गुण पर्यायवद् द्रव्यं' यही कहा गया है अर्थात् गुण और पर्याय वाला द्रव्य है। यदि पर्याय अशुद्ध है तो द्रव्य भी अनिवार्य रूप से अशुद्ध है।

लेकिन यह भी ध्यान रखना कि वर्तमान में जो पर्याय अशुद्ध है वह पर्याय तो शुद्ध नहीं बन पायेगी किन्तु वर्तमान में जो अशुद्ध द्रव्य है वह द्रव्य शुद्ध बन सकता है। उसके पास शुद्धत्व की शक्ति है। इसी अपेक्षा से आचार्यों ने कहा है कि विभाव रूप परिणमन करते हुए भी जीव द्रव्य कथंचित् शुद्ध है। आप कह सकते हैं कि द्रव्य शुद्ध ही है और पर्याय अशुद्ध है, ऐसा मान लेने में अपने को क्या हानि। तो भइया पहली बात कि द्रव्य का परिणमन जब भी होता है वह समूचे द्रव्य का होता है। कुछ प्रदेश शुद्ध

रहे और कुछ प्रदेश अशुद्ध रहे आवें, ऐसा नहीं है। अशुद्ध परिणमन का प्रभाव पूरे द्रव्य के ऊपर पड़ता है।

आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने प्रवचनसार में स्पष्ट लिखा है कि 'परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयत्ति पण्णतं' अर्थात द्रव्य जिस समय जिस भाव से परिणमन करता है उस समय उसी रूप होता है। दूसरी बात, यदि वर्तमान में हमारा द्रव्य भीतर से शुद्ध ही है तो समझो मुक्त ही है और मुक्त है तो मुक्ति का अनुभव, केवलज्ञान का अनुभव भी होना चाहिए लेकिन अभी तो अपने पास एक अक्षर का भी ज्ञान नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि सारा का सारा द्रव्य ही बिगड़ा हुआ है, 'स्वभावात् अन्यथा भवनं विभावः' स्वभाव से विलोम स्थिति हो चुकी है। यह मैं पहले बता चुका हूँ।

जिस समय स्वभाव पर्याय की अभिव्यक्ति होगी उस समय विभाव पर्याय की वहाँ पर अभिव्यक्ति नहीं रहेगी, तब जिज्ञासा होती है कि जीव को शुद्ध जीवत्व की प्राप्ति कैसे हो? आचार्यों ने इसके लिए मोक्षमार्ग के अन्तर्गत तत्त्वों का उल्लेख किया। इन तत्त्वों को जो व्यक्ति अपने जीवन में सम्यक् प्रकार से शान्ति के साथ जान लेता है और अपने भीतर होने वाली वैभाविक प्रक्रिया के बारे में निकटता से अध्ययन करता है वह व्यक्ति स्वभाव को प्राप्त करने का जिज्ञासु कहलाता है।

एक याचक व्यक्ति एक सेठ के पास गया। वह सेठ उस व्यक्ति के पिता का दोस्त था। उसकी दयनीय स्थिति देखकर सेठ को उस पर करुणा हो आती है। वह कहता है कि बेटे! तुम्हारे पिताजी की मेरे साथ घनिष्ट मित्रता थी। हम दोनों दोस्त थे। किन्तु अलग-अलग व्यवसाय के कारण क्षेत्रान्तरित हो गये। मैं तुम्हें पहचान गया हूँ। तुम्हारे पिताजी मरने से पहले मुझे बता गये थे कि मेरा लड़का जब बड़ा हो जाए तो घर में जो धन पैसा दबा रक्खा है उसे बता देना। अब तुम बड़े हो गये हो, तुम्हें धन की आवश्यकता का भान हो रहा है उसे पाने की जिज्ञासा भी तुम्हारे भीतर उत्पन्न हो गयी है अतः मैं बता देता हूँ। अब तुम्हें याचना करने की, दीन-हीन होने की आवश्यकता नहीं है, जाओ और अपनी संपत्ति निकाल लो।

उस व्यक्ति को अपनी संपत्ति का जैसे ही ज्ञान हो गया उसने याचना करना बंद कर दिया और घर पहुँचकर उसे प्राप्त भी कर लिया। इसी तरह हम इस समय वर्तमान में भले ही विभाव रूप परिणमन कर रहे हैं परन्तु उसका अर्थ यह नहीं है कि अनन्तकाल तक हम ऐसे ही याचक बने रहें।

हम भी सेठ साहूकार बन सकते हैं अर्थात् अपनी आत्म-सम्पदा को अपने स्वभाव को प्राप्त कर सकते हैं।

आत्मा की शक्ति अनन्त है किन्तु उस शक्ति का उदघाटन आवश्यक है। उस अनंत शक्ति का उद्घाटन हम तभी कर सकेंगे जब कि वर्तमान में मेरी यह विभाव रूप स्थिति हो गयी है- ऐसा विश्वास कर लेंगे। अपने आप को जो व्यक्ति बंधा हुआ अनुभव नहीं करेगा वह मुक्ति की जिज्ञासा कैसे करेगा? मुक्ति के ऊपर विश्वास उसी को हो सकता है, जो बहुत जकड़न का अनुभव करता है। 'बंध सापेक्षैव मुक्तिः' - बंध की अपेक्षा ही मुक्ति है। बंध का अभाव ही मोक्ष है।

एक द्रव्य में प्रत्येक गुण की जो पर्यायें हैं वे पर्यायें गुणों के साथ क्षणिक तादात्म्य संबंध रखती है और जो संबंध द्रव्य के साथ गुण का है वही संबंध पर्याय का भी द्रव्य के साथ है। प्रदेश भेद नहीं है। संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा कथंचित् भेद संभव है। इसलिए वर्तमान में इस जीव का समूचा विलोम परिणमन हो चुका है। मात्र एकान्त रूप से पर्याय ही अशुद्ध है। द्रव्य तो एक शुद्ध पिण्डरूप सिद्ध परमेष्ठी के समान है, ऐसा यदि हम मान लेंगे तो आगम से बाधा आ जायेगी।

यदि कोई व्यक्ति कहता है कि जीव जो बिल्कुल शुद्ध है, मात्र उसकी पर्याय और वह भी जो क्षणिक है, वह अशुद्ध है, द्रव्य जो त्रैकालिक शुद्ध पिण्ड है तब कोई दूसरा व्यक्ति आकर यदि सामने लगे पेड़ को साष्टांग नमस्कार करता है और "हे! शुद्धात्मने नमः" -ऐसा कहता है तो फिर ऑब्जेक्शन नहीं होना चाहिए। पर आप ऑब्जेक्शन किये बिना नहीं रहेंगे। आप कहेंगे कि यह तो बिल्कुल गृहीत मिथ्यात्व हैं। क्योंकि वह सच्चे देव गुरु-शास्त्र की वन्दना नहीं कर रहा है। जो सच्चे देवगुरु-शास्त्र की वंदना करता है सम्यग्दृष्टि होता है। इस तरह अनेक बाधाएं उपस्थित हो जायेंगी। एकेन्द्रिय को तो आगम के अनुसार मिथ्यादृष्टि माना है और मिथ्यादृष्टि को सम्यग्दृष्टि नमस्कार नहीं कर सकता।

आचार्य अमृतचंद सूरिजी कह रहे हैं कि वह ज्योति जयवन्त रहे, वह ज्योति पूज्यनीय है जो शुद्ध है। ज्योति पर्याय है। ज्योति शुद्ध है, पर्याय शुद्ध है तो पर्याय के साथ द्रव्य भी वहाँ पर शुद्ध है, इसमें कोई संदेह नहीं है लेकिन पर्याय अशुद्ध हो और द्रव्य शुद्ध रहा आवे यह भी संभव नहीं है। इस बात को गौण नहीं करना चाहिये। गहराई से समझना चाहिये।

दूसरी बात यह कहता हूँ कि वन्द्य-वन्दक भाव जितने भी चलते हैं वे शुद्ध द्रव्य के साथ नहीं चलते लेकिन अशुद्धत्व से शुद्धत्व को प्राप्त करने के लिए जो चल पड़े हैं उनको देखकर उनके प्रति यह नमस्कार, वंदना-पूजा-अर्चा और स्तवनादि हुआ करते हैं। सिद्ध परमेष्ठी शुद्ध जीवत्व को प्राप्त कर चुके हैं इसलिए अमूर्त हैं लेकिन अमूर्त की भी पूजा हम मूर्ति के माध्यम से करते हैं। अमूर्त की पहचान मूर्त के माध्यम से होती है।

अर्हन्त परमेष्ठी मूर्त है और अभी पूरी तरह शुद्ध जीव नहीं है। हम उनकी आराधना करेंगे या नहीं। एकाध व्यक्ति नहीं करे तो नहीं भी करे लेकिन पंच परमेष्ठी में जो आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु हैं वे कुन्दकुन्द जैसे आचार्य भी अरहंत परमेष्ठी को मुख्यता देते हैं और उनको नमस्कार करते हैं, उनकी वन्दना करते हैं, और परोक्ष में यहीं पर बैठे-बैठे विदेह क्षेत्र में स्थित सीमन्धर स्वामी आदि को भी नमस्कार करते हैं और परोक्ष में उन्हें आशीर्वाद भी प्राप्त हो जाता है। इसका आशय यह हुआ कि वन्द्य-वन्दक भाव शुद्ध द्रव्य के साथ न होकर शुद्ध की ओर चलने वालों के प्रति होता है।

अरहंत परमेष्ठी क्यों अशुद्ध हैं अभी? इसलिए कि अभी वे कृतकृत्य नहीं हुए है। अभी चार कर्म शेष हैं। जो शुद्ध होता है वह कृतकृत्य होता है। जो कृतकृत्य होता है वह आराधक नहीं होता है, वह अपने आपमें स्वयं आराध्य होता है। सिद्ध परमेष्ठी आराध्य हैं, आराधक नहीं। अर्हन्त परमेष्ठी अभी आराधक भी है और आराध्य भी है। इतना अवश्य है कि वे हमारे जैसे आराधक नहीं है। उनका वह जीवत्व का परिणमन अब शुद्धत्व के निकट पहुँच चुका है। अभी वे वास्तविक जीवत्व की प्राप्ति नहीं कर पाये हैं।

कुन्दकुन्द आचार्य महाराज ने एक स्थान पर जीव का स्वरूप बताया है और एक स्थान पर जीव का लक्षण बताया है। स्वरूप और लक्षण में बहुत अन्तर है। ''अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं। जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिठ्ठसंठाणं।। यह जीव का स्वरूप है। ''उपयोगो लक्षणं'' - यह जीव का लक्षण है। इस प्रकार जीव का लक्षण और जीव के स्वरूप में बहुत अन्तर है। जीव का स्वरूप तो अमूर्त है लेकिन जीव का लक्षण अमूर्त नहीं हो सकता जीव का लक्षण यदि अमूर्त हो जाएगा तो अमूर्त तो अन्य द्रव्य भी हैं, धर्मास्तिकाय अमूर्त है, अधर्मास्तिकाय भी है आकाश और काल भी है। अरस, अरूप, अंगध आदि यह जीव का लक्षण नहीं है, यह तो जीव का स्वरूप है।

आचार्य कहते हैं स्वभाव को प्राप्त करना है वह प्राप्तव्य है। लक्षण तो प्राप्त ही है। जिस स्वभाव को प्राप्त करना है, जिसका भान हमें कराया गया है वह स्वभाव मात्र सिद्धालय में प्राप्त होगा। वह अभी अर्हन्त परमेष्ठी को भी प्राप्त नहीं है। अर्हन्त परमेष्ठी के पास उनको प्राप्त करने की क्षमता है, शक्ति है, लेकिन उस शक्ति के उद्घाटन के लिए प्रयास परम आवश्यक है। जिसे वे कर रहे हैं दिन रात।

अर्हन्त परमेष्ठी को स्नातक कहा गया है और स्नातक का अर्थ है स्नात् अर्थात् स्नान किया हुआ। यहाँ पर स्नान से तात्पर्य है कि जो आठ कर्म लगे थे, उन आठ कर्मों में से चार कर्मों का मल धो दिया गया, अतः स्नातक बन गये हैं। लौकिक शिक्षण में पहले स्नातक (बेचलर) होता है, फिर स्नातकोत्तर होता है उसके उपरान्त अध्यापक (लेक्चरर) कहलाता है। स्नातक और स्नातकोत्तर दोनों ही विद्यार्थी हैं। इसी प्रकार तेरहवें गुणस्थान में अर्हन्त भगवान स्नातक हैं। चौदहवें गुणस्थान में स्नातकोत्तर होंगे, उसके उपरान्त लेक्चरर अर्थात् सिद्धत्व को प्राप्त करेंगे। अभी वे विद्यार्थी हैं। 'विद्या एव प्रयोजनम् यस्य स विद्यार्थी' अथवा 'विद्याम् अर्थयते इच्छति इति विद्यार्थी' - अर्थात् जो विद्या को चाहता है वह विद्यार्थी है। अर्थात् कुछ पाना चाहता है अभी पाना शेष है।

अर्हन्त भगवान को अभी कुछ और प्राप्त करना है और वह है शुद्ध जीवत्व की प्राप्ति, अलिंग ग्रहण। अभी हमारी इन्द्रियों की पकड़ में आ रहे हैं अर्हन्त परमेष्ठी। वे चाहते हैं कि सभी की पकड़ से बाहर निकल जाएं। इसके लिए वे अभी योग-निरोध करेंगे। अंतिम दो शुक्ल ध्यान के माध्यम से शेष कर्मों का क्षय करेंगे।

अर्हन्त परमेष्ठी अभी दर्पण के समान उज्ज्वल हैं। अभी दर्पण में भी और उज्ज्वलता लानी है। वह उज्ज्वलता कैसी है? आप रोजाना दर्पण देखते हो लेकिन ध्यान रखना एक दिन भी दर्पण नहीं देखा। दर्पण में देखने की आंख अलग है। हमें दर्पण नहीं दिखता, दर्पण में अपना मुख दिखता है। अभी अर्हन्त परमेष्ठी दर्पण के समान शुद्ध हैं, काँच के समान नहीं। दर्पण और काँच में अन्तर है। दर्पण उसे कहते हैं जिसमें एक काँच के पृष्ठ भाग पर कुछ लालिमा लगाई जाती है जिसके माध्यम से प्रतिबिंब बनने लगता है। वह लालिमा हट जायें तो सब पारदर्शक, ट्रासपेरेंट हो जाता है उसका नाम काँच है।

ऐसा समझें कि सिद्ध परमेष्ठी काँच के समान ट्रांसपेरेंट हो चुके हैं और अर्हन्त परमेष्ठी जो हैं अभी चार कर्मों की ललाई लिए हुए हैं। चार कर्म निकल चुके हैं इसलिए दर्पण के समान उज्ज्वल हो गये हैं लेकिन अब लालिमा भी चली जायेगी बिल्कुल स्वभावमय काँच की तरह सिद्ध परमेष्ठी हो जायेंगे। बुंदेलखंड में कार्य के लिए 'काज' शब्द प्रयोग में लाते हैं। जैसे मुक्ति के काज। अर्हन्त भगवान के लिए आनंद प्राप्त करना ही एक मात्र कार्य है। वह कार्य सम्पन्न हो जाता है, काज हो गया अर्थात् कृतकृत्य हो गये। अर्हन्त परमेष्ठी को अभी कृतकृत्य होना है।

इस तरह आचार्य महाराज ने लक्षण के अंतर्गत चेतना या उपयोग को रक्खा है और स्वरूप के अन्तर्गत जितनी भी शक्तियां हैं वे सब आ जाती हैं। यहाँ अरस, अरूप, अगंध आदि ये सारे के सारे लक्षण नहीं है जीव के, क्योंकि ये संसारी जीव में हमें देखने को नहीं मिलते, देखना संभव भी नहीं है जीव के, लक्षण के माध्यम से ही जीव को पकड़ लेते हैं, स्वरूप के माध्यम से पकड़ में नहीं आयेगा जीव। अर्हन्त परमेष्ठी की हम पूजा करते हैं, वे हमारे लिए पूज्य हैं लेकिन अभी वे असिद्धत्व का अनुभव कर रहे हैं, आगे कृतकृत्य होकर अवश्य-रूपेण आराध्य बनेंगे-सिद्धत्व को अर्थात सिद्ध पर्याय को प्राप्त करेंगे। सभी को इसी प्रकार सिद्धत्व की प्राप्ति के लिए प्रयास करना पड़ेगा। अपनी वैभाविक दशा को पहचानकर स्वभाव की ओर अग्रसर होना होगा।

'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' - यह कहकर आचार्य उमास्वामी महाराज के तत्वार्थ सूत्र/मोक्षशास्त्र का प्रारम्भ किया है और अंत में जाकर कह दिया कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान, चारित्र भी आत्मा के स्वभाव नहीं है किन्तु स्वभाव प्राप्ति में कारण हैं। इसलिए इनका अभाव अन्त में अनिवार्य है। जहाँ उन्होंने 'औपशमिकादि भव्यत्वानाम्-च'-यह कहा है, वहीं उन्होंने सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र रूप परिणत जो भव्यत्व भाव है उस भव्यत्व रूप पारिणामिक भाव का भी अभाव दिखाया है। सिद्धालय में मात्र जीवत्व भाव रह जाता है। वह जीवत्व ही हमारे लिए प्राप्तव्य है। उस प्राप्तव्य के लिए कारण-भूत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

द्रव्य जहाँ शुद्ध है वहाँ सारी-की-सारी द्रव्य की पर्यायें भी शुद्ध हैं, गुण भी शुद्ध है। जहाँ एक भी अशुद्ध है वहाँ सारा का सारा अशुद्ध है। कारण कार्य का विचार करें तो पर्याय किसी न किसी का कार्य होना चाहिये और

इस पर्याय रूप कार्य का उपादान भी परमावश्यक है। वह उपादान कौन है? और वह शुद्ध है या अशुद्ध? इसका विचार किया जाए तो मालूम पड़ेगा कि पर्याय जिस द्रव्य में से निकली है यह द्रव्य भी अशुद्ध है। आचार्यों ने जहाँ कहीं भी कहा कि द्रव्य शुद्ध है वहाँ शुद्ध रूप परिणमन करने की शक्ति है, इस अपेक्षा से कहा है।

एक बार जब उस स्वाभाविक शक्ति का उद्घाटन हो जाएगा तो पुनः वैभाविक पर्याय शक्ति की अभिव्यक्ति नहीं होगी। "पाषाणेषु यथा हेम, दुग्ध-मध्ये यथाघृतम्, तिलमध्ये यथा तैलः, देह-मध्ये तथा शिवः। - अर्थात् जिस प्रकार पाषाण में स्वर्ण है, तिल में तेल है और दूध में घी है उसी प्रकार इस देह में आत्मा है। हम दूध में से यूँ ही घी निकालना चाहें तो वह हाथ नहीं आयेगा। घी उसमें है फिर भी नहीं आता। तो उसमें घी है भी और नहीं भी है, दूध में से ही घी निकलता है इसलिए उसमें घी है भी लेकिन दिखायी नहीं देता, सुगंध नहीं आती इसलिए घी नहीं भी है। वैद्य लोग जब किसी को औषधि देते हैं तो कभी घी के साथ अनुपान बनाते हैं और कभी दूध के साथ बनाते हैं। दूध पर्याय भिन्न है और घी पर्याय भिन्न है, तथापि घी दूध के बिना नहीं है और दूध घी के बिना नहीं है। ऐसे ही देह के साथ में आत्मा है।

दूध अभी घी नहीं है उसमें घी बनने की शक्ति है। यदि उसमें से घी निकालना चाहो तो उसके साथ जो संबंध हुआ, जो विभाव रूप परिणमन हुआ है उसे हटाना होगा। हटाने की बात तो क्षणभर में कही जा सकती है लेकिन दूध से घी निकालने के लिए चौबीस घंटे तो चाहिये ही। जो व्यक्ति घी को प्राप्त करना चाहता है वह व्यक्ति पहले दूध को तपाता है, तपाने के उपरान्त उसे जमाता है, फिर मथानी डालकर मंथन करता है। बार-बार झाँककर देख लेता है कि नवनीत आया या नहीं, नवनीत आते ही मंथन बंद कर देता है। इस तरह अभी दूध में से एक ऐसा तत्त्व निकला जो तैर रहा है। पर डूबा नहीं है। छाछ के भीतर ही भीतर तैर रहा है, पर थोड़ा सा ऊपर भी दिखायी पड़ जाता है।

पहले तो ऐसा कोई पदार्थ दूध में नहीं दिखता था, यह कहाँ से आ गया? तो यह मंथन का परिणाम है, उस परिश्रम का परिणाम है। नवनीत का गोला जिस तरह तैर रहा है उसी प्रकार का अर्हन्त परमेष्ठी भी तैर रहे हैं। अब डूबेंगे नहीं भवसागर में, लेकिन अभी लोक के अग्रभाग में भी नहीं पहुंचे

हैं। सिद्ध परमेष्ठी बिल्कुल लोक के अग्रभाग पर है, वे सिद्ध हैं और शुद्ध हैं। अर्हन्त परमेष्ठी नवनीत की भांति न पूर्णतः शुद्ध है, न अशुद्ध ही हैं। ऐसी दशा में उनको क्या कहा जाये? अभी अलिंगग्रहण स्वभावप्रकट नहीं हुआ। अभी सिद्धत्व रूप जो पर्याय है वह प्रकट नहीं हुई, अभी जो केवल जीवत्व है, वह नहीं है। भव्यत्व का भी अभाव अभी आवश्यक है।

जिस प्रकार नवनीत में जल तत्त्व है जो उसे छाछ में डुबोये हुए है इसी प्रकार अर्हन्त परमेष्ठी के पास भी कुछ वैभाविक परिणतियाँ शेष हैं जो उन्हें लोक के अग्रभाग में जाने से रोके हुए हैं। उन्हें भी हटाने का प्रयास वे कर रहे हैं। इस सबका आशय यह हुआ कि घी उस दूध में होते हुए भी व्यक्त रूप में नहीं मिलता, अव्यक्त रूप से दूध में रहता है। उसी को आचार्यों ने अपने शब्दों में 'शक्ति और व्यक्ति'- ये दो शब्द दिये हैं। आत्मा के पास सिद्ध बनने की शक्ति है, उसे व्यक्त करेंगे तो वह व्यक्त हो सकती है। स्वयं के परिश्रम के बिना दुनिया की कोई भी ऐसी शक्ति नहीं है जो उस सिद्धत्व की शक्ति को व्यक्त करा दे।

दही में से नवनीत निकालने के लिए जिस प्रकार मथानी आवश्यक साधन हो जाता है उसी प्रकार यह दिगम्बरत्व और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप साधन सारे के सारे परम आवश्यक हैं। जिनके माध्यम से मार्ग मिलेगा और मंजिल भी अवश्य मिलेगी।

जीव तत्त्व शुद्ध रूप में संसार दशा में प्राप्त नहीं हो सकता। शुद्ध जीव तत्त्व चाहिए तो वह सिद्धों में है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इसकी प्राप्ति के कारण हैं। ये सुख के कारण हैं। मुक्ति के कारण हैं। स्वयं सुख रूप नहीं हैं इसलिए इन्हें मार्ग कहा गया है। मार्ग में कभी सुख नहीं मिलता, सच्चा सुख तो मंजिल में ही है, मोक्ष में है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सुख के कारण है, इनके अभाव होने पर ही सिद्धत्व रूप कार्य होता है। ये सुख के कारण है और सिद्धत्व सुखरूप अवस्था है।

वृहद् द्रव्य संग्रह की वचनिका में लिखा है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की परिणति रूप जो आत्मा की उपयोग की परिणति है वह भी स्वभाव नहीं है। क्योंकि शुद्धोपयोग यदि आत्मा का स्वभाव है तो सिद्धावस्था में भी रहना चाहिये। किन्तु शुद्धोपयोग तो ध्यानावस्था का नाम है। ध्यान तो ध्येय को प्राप्त कराने वाली वस्तु है, वह ध्येय नहीं है। सिद्धावस्था

में तो मात्र चैतन्य स्वभाव रह जाता है। शुद्ध चेतना या ज्ञान-चेतना रह जाती है। चैतन्य मात्र खलु चिद् चिदेव।

इस प्रकार बहुत कुछ जीव तत्त्व के बारे में कहा गया है। जीव तत्त्व के बारे में इतना अवश्य समझना चाहिये कि वर्तमान संसारी दशा में जीव अशुद्ध है द्रव्य, की अपेक्षा भी अशुद्ध है और पर्याय भी अशुद्ध है। इतना अवश्य है कि जीव में शुद्धत्व की शक्ति विद्यमान है। पर्याय जब शुद्ध होगी तब शुद्ध जीव तत्त्व की प्राप्ति नियम से होगी। और वह शुद्ध तत्त्व की अनुभूति फिर अनन्त काल तक रहेगी। उसमें कोई विक्रिया संभव नहीं है, वह एक सहज प्रक्रिया होगी। इसे समझकर हमें सिद्ध पर्याय को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये। रत्नत्रय को अंगीकार करके मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होना चाहिये। यही जीव तत्त्व को समझने की सार्थकता है।

जीव तत्त्व से विपरीत अजीव तत्त्व है। वह ज्ञान दर्शन से शून्य है। आगम में उसके पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल-ये पांच भेद कहे गये हैं। इनमें धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार के द्वारा जीव में कोई विकृति नहीं आती परन्तु कर्म रूप परिणत पुद्गल द्रव्य की उदयावस्था का निमित्त पाकर जीव में रागादि विकार प्रकट होते हैं।

यद्यपि इन रागादि विकारों का भी उपादान कारण आत्मा है तथापि मोहनीय कर्म की उदयावस्था के साथ अन्वय व्यतिरेक होने से वह इनका निमित्त कारण होता है। रागादि विकारी भावों का निमित्त पाकर कार्मण वर्गणा रूप पुद्गल में कर्मरूप परिणति होती है। इसी के फलस्वरूप जीव की संसार वृद्धि होती रहती है। कर्म से शरीर रचना होती है, शरीर में इन्द्रियों का निर्माण होता है। इन्द्रियों से स्पर्शादि विषयों का ग्रहण होता है। इससे नवीन कर्मबंध होता है। इस तरह कर्म, नोकर्म और भावकर्म रूप अजीव का, जीव के साथ अनादि काल से संबंध चला आ रहा है। जब तक इसका लेशमात्र भी संबंध रहेगा तब तक मुक्तावस्था की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए इस अजीव तत्त्व को समझकर इसे पृथक् करने का सम्यक् प्रयत्न करना चाहिये।

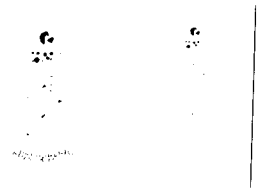

□□

आस्रव तत्त्व

सात तत्त्वों में विद्यमान जीव-अजीव के उपरान्त अब आता है आस्रव। 'स्रव' धातु बहने के अर्थ में है स्रवति अर्थात् बहना, सरकना, स्थान से स्थानान्तर होना और इस 'स्रव' धातु के आरंभ में 'आ' उपसर्ग लगा दिया जाए तो आस्रव शब्द की उत्पत्ति हो जाती है। जैसे गच्छति का अर्थ होता है जाना और आगच्छति का अर्थ है आना। नयति का अर्थ है ले जाना और आनयति अर्थात् ले आना। इस प्रकार इस 'आ' उपसर्ग के अनुरूप धातु का अर्थ विपरीत भी हो जाता है जैसे दान और आदान। देना बहुत कम पसन्द करते हैं आप लोग, आदान यानी लेने के लिए जल्दी तैयार हो जाते हैं। यहाँ आस्रव का अर्थ है सब ओर से आना।

आस्रव के दो भेद आचार्य करते हैं-एक भावास्रव और दूसरा द्रव्यास्रव। द्रव्यास्रव का अर्थ है बाहरी चीजों का आना और भावास्रव का अर्थ है अन्दर ही अन्दर आना। यह बहुत रहस्य की बात है कि आत्मा है ही और फिर आत्मा में क्या आना है? आचार्य उमास्वामी ने मोक्षशास्त्र के छठे अध्याय के प्रारंभ में ही सूत्र लिखा है-

कायवाङ्मनः कर्मयोगः ॥ 1 ॥ स आस्रवः॥ 2 ॥
शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥ 3 ॥

उन्होंने बड़ा विचार किया होगा, बहुत चिन्तन किया होगा कि यह आस्रव क्यों होता है तभी ऐसे सूत्र लिखे गये होंगे।

सामान्यतः यही धारणा होती है कि कर्म के उदय से आस्रव होता है किन्तु गहरे चिन्तन के उपरान्त यह फलित हुआ कि आस्रव मात्र कर्म की देन नहीं है, यह आस्रव आत्मा की ही अनन्य शक्ति 'योग' की देन है। कर्मों के ऊपर ही सब लादने से हम कर्मों की क्षमता को ठीक-ठीक समझ नहीं सकेंगे। कर्म जबरदस्ती आत्मा में शुभाशुभ भाव पैदा कर सके, यह संभव नहीं है। यदि कर सकते हैं तो आत्मा की स्वतंत्र सत्ता ही लुट जायेगी, तब पराई सत्ता अर्थात् कर्मों का कोई कभी अभाव नहीं कर पायेगा और कर्मों का आस्रव निरन्तर होता रहेगा। यह सामान्य कर्मों की बात कह रहा हूँ, विशेष कर्मों की बात नहीं। तो आस्रव योग की देन है और मन-वचन-काय की चेष्टा का नाम योग है।

आप ध्यान से सुनेंगे तो आपको बहुत कुछ चिन्तन का विषय मिल जायेगा और आत्मा की उपादान शक्ति की जागृति आप इस दौरान करना चाहें तो कर सकते हैं। 'योग'-यह कर्म की देन नहीं है। कर्म की वजह से नहीं हो रहा है योग। 'योग' आत्मा की ही एक वैभाविक परिणति का नाम है। यद्यपि इस प्रकार का उल्लेख ग्रंथों में ढूढँने के लिए जायें तो बहुत मुश्किल से मिलेगा। जो चिंतन-मंथन करेंगे उन्हें अवश्य मिलेगा। खूब मंथन करो, आत्मा की शक्ति के बारे में खूब चिन्तन करो। अद्वितीय आत्म-शक्ति है वह, चाहे वैभाविक हो या स्वाभाविक हो।

अपने यहाँ आठ कर्म है मूल रूप से। ज्ञानावरण का स्वभाव या प्रकृति ज्ञान को ढकना है। दर्शनावरण कर्म की प्रकृति दर्शन को ढकना है। वेदनीय की प्रकृति आकुलता पैदा करना है और मोहनीय की प्रकृति गहल भाव/मूर्छा पैदा करना है। इसके उपरान्त नाम कर्म का काम अनेक प्रकार के रूप पैदा करना, आकार-प्रकार देना है और गोत्र कर्म का काम ऊँच और नीच बना देना है। आयु कर्म का काम एक शरीर या भव विशेष में रोके रखना है। और अन्तराय कर्म वीर्य अर्थात् शक्ति को ढकने वाला है। यह सब उन कर्मों का स्वभाव हो गया। अब योग को किस कर्म की देन माना जाये। आठ कर्मों के जो उत्तर भेद है उनमें भी 'योग' को देने वाला कर्म नहीं है।

ऐसी स्थिति में विचारणीय है कि योग क्या चीज है जो कर्मों को खींचने वाला है। 'आसमन्तात् आदत्तो इति आस्रवः' ऐसी कौन सी शक्ति है जो चारों ओर से आत्मा के प्रदेशों के साथ कर्म वर्गणाओं को लाकर रख देती है। तो वह शक्ति कोई और नहीं बल्कि 'योग' है वह योग किसी कर्म की देन नहीं है। वह न तो क्षायिक भाव में आता है न क्षायोपशमिक भाव में आता है। और न ही औदयिक भाव में आता है किन्तु योग को आचार्यों ने पारिणामिक भाव में रखा है।

आपके मन में जिज्ञासा होगी कि अब तक हमने पारिणामिक भाव तो तीन ही सुने थे, यह चौथा कहाँ से आ गया। क्या आपका कोई अलग ग्रंथ है महाराज! तो भाई मेरा कोई अलग ग्रंथ नहीं है। किन्तु निर्ग्रन्थ आचार्यों का उपासक मैं निर्ग्रन्थ अवश्य हूँ। निर्ग्रन्थों की उपासना से इस चीज की उपलब्धि संभव है। आप धवला जी ग्रंथ देखें तो मालूम पड़ जायेगा कि योग पारिणामिक भाव में स्वीकृत है। यह आत्मा का हीएक मनचलापन या वैभाविक स्थिति है। जो कर्मों को खींचता है, फिर चाहे कर्म शुभ हों या अशुभ हों।

अशुभयोग जब तक रहता है तब तक अशुभ प्रकृतियों का आस्रव होता है और शुभ योग होने पर शुभ प्रकृतियों का आस्रव होता है। लेकिन योग जब तक रहेगा तब तक आस्रव करायेगा ही। योग कर्म की देन नहीं है, यह अद्‌भुत बात सामने आयी। इससे आत्मा की स्वतंत्र सत्ता का भान होता है कि जब आत्मा ही आस्रव कराता है जो आत्मा उस आस्रव को रोक भी सकता है। अब यदि कोई व्यक्ति आस्रव को रोकना चाहे और यह कहकर बैठ जाये कि कर्मों का उदय है क्या करूँ? तो उसे अभी करणानुयोग का ज्ञान नहीं है यही कहना होगा।

धवलाकार वीरसेन स्वामी ने कहा है कि यह योग पारिणामिक भाव है पर ध्यान रखना, आत्मा का पारिणामिक भाव होते हुए भी आत्मा के साथ इसका त्रैकालिक संबंध नहीं है। कई पारिणामिक भाव ऐसे हैं जिनका संबंध आत्मा के साथ त्रैकालिक नहीं होता। जैसे अग्नि है और अग्नि में धुआं है। धुआं अलग किसी चीज से निकलता हो ऐसी बात नहीं है। धुआं अग्नि से निकलता है और वह अग्नि अशुद्ध अग्नि कहलाती है। यदि अग्नि एक बार शुद्ध बन जावे तो फिर धुआं नहीं निकलता। निर्धूम अग्नि का प्रकरण न्याय ग्रंथों में पाया जाता है। न्याय ग्रन्थों में ऐसी व्याप्ति मानी गयी है कि ''यत्र-यत्र धूमः तत्र तत्र वह्नि अस्ति एव'' - जहाँ जहाँ धुआँ है वहाँ-वहाँ नियम से अग्नि है। लेकिन जहाँ जहाँ अग्नि है वहाँ धुआँ हो यह नियम नहीं है। क्योंकि निर्धूम अग्नि धुआं रहित होती है।

जिस प्रकार निर्धूम अग्नि स्वाभाविक अग्नि है और सधूम अग्नि वैभाविक अग्नि है इसी प्रकार आत्मा के अंदर कुछ ऐसे परिणाम हैं जो वैभाविक हैं और कर्म की अपेक्षा भी नहीं रखते और कुछ ऐसे भी हैं जो स्वाभाविक हैं, वे भी कर्म की अपेक्षा नहीं रखते। योग आत्मा की वैभाविक परिणति है, जिसके माध्यम से आत्मा के एक-एक प्रदेश पर अनंतानंत कर्म-रेणु आकर चिपक रहे हैं।

अब इसके उपरान्त हम आगे बढ़ते हैं, चिन्तन करते हैं कि जब योग है तो इससे मात्र कर्म आने चाहिये, शुभ और अशुभ का भेद नहीं होना चाहिये। आचार्य उमास्वामी ने तो शुभ और अशुभ दोनों का व्याख्यान किया है, ऐसा क्यों? तो आचार्य कहते हैं कि अशुभ का आस्रव कषाय के साथ होता है, जिसे सम्परायिक आस्रव कहते हैं। 'साम्परायः कषायः तेन साकम् आस्रवति यत् कर्म तत् साम्परायिक कर्म इति कथ्यते'- जो योग कषाय के साथ संबंध को प्राप्त हो चुका है अर्थात् कषाय के साथ जो योग है उसके

माध्यम से अशुभ का आस्रव होता है। कषाय से रहित योग के साथ मात्र शुभ का आस्रव होता है। साता वेदनीय का एक मात्र आस्रव होता है। इसका अर्थ हो गया कि कषाय के साथ जब तक योग रहेगा तब तक वह अशुभ कर्मों को अवश्य लायेगा, आप उसे रोक नहीं सकते।

यहाँ आप लोगों की दृष्टि मात्र कर्म की ओर न ले जाकर परिणामों की ओर इसलिए ले जा रहा हूँ क्योंकि कर्मों के बारे में बहुत कुछ व्याख्यान हो चुके हैं। सम्यग्दर्शन फिर भी प्राप्त नहीं हो पा रहा है। बड़े-बड़े विद्वान आकर पूछते हैं कि महाराज! सम्यग्दर्शन कैसे प्राप्त किया जाए? अब उनके लिए यह तो कहना मुश्किल हो गया कि समयसारजी पढ़ो। क्योंकि समयसार तो सभी ने रट रक्खा है। समयसार पढ़ते हुए भी सम्यग्दर्शन के लिए कह रहे है तो इसके लिए कोई रास्ता तो मुझे बताना ही होगा। हम तो निर्ग्रन्थ परिषद् से संबंध रखते हैं और आप सग्रन्थ परिषद् के सदस्य हैं, इसलिए आपके समान बोलते-बोलते सकुचा रहा हूँ। सग्रन्थ के साथ निर्ग्रन्थ की क्या वार्ता! कैसी वार्ता! तो आगम को सामने रखकर सारी बात कह रहा हूँ।

कषाय के साथ जो योग है उसी का आचार्यों ने एक दूसरा नाम रखा है लेश्या। कषाय से अनुरंजित जो योग की प्रवृत्ति है, वह है लेश्या। वह लेश्या अर्थात् योग की प्रवृत्ति जब तक कषाय के साथ है तब तक वह अशुभ कर्मों का आस्रव कराने में कारण बन जाती है। कोई भी कर्म किसी भी आस्रव के लिए कारण नहीं है किन्तु कषाय जो कि आत्मा की ही परिणति है। जो कि उपयोग की उथल-पुथल है वही आस्रव का कारण है। उपयोग की व्यग्रता-कषाय और योग की व्यग्रता-लेश्या।

आस्रव संसार का मार्ग कहलाता है क्योंकि जब तक आस्रव होगा तब तक कर्म रहेंगे और कर्म रहेंगे तो उनका फल मिलेगा, यह परतंत्रता है। इसी परतंत्रता से शरीर मिलता है, शरीर मिलेगा तो इन्द्रियाँ मिलेंगी, इन्द्रियाँ मिलेंगी तो विषयों का ग्रहण होगा जिससे कषाय जाग्रत होगी। इसी प्रकार यह शृंखला चलती है। आशय यह हुआ कि कषाय के साथ जो योग की प्रवृत्ति है वही अशुभ कर्मों के आस्रव के लिए कारण है।

आचार्य उमास्वामी ने तत्वार्थ सूत्र के आठवें अध्याय में आस्रव-द्वारों के बारे में जो बंध के कारण हैं, उनका उल्लेख किया है - 'मिथ्यात्वाविरतिप्रमाद कषाय योगा बंध-हेतवः। यहाँ योग को अन्त में लिया है और सर्वप्रथम रखा है मिथ्यात्व। मिथ्यात्व को बंध का कारण माना है पर यह समझने की बात है।

मिथ्यात्व न कषाय में आता है, न योग में आता है। जबकि योग और

कषाय के माध्यम से आस्रव-मार्ग और बंध-मार्ग चलता है। अपने को कषाय और योगों को संभालने की आवश्यकता है। आस्रव को यदि रोकना चाहते हो, आस्रव से यदि बचना चाहते हो, तो मिथ्यात्व की ओर मत देखो, वह अपने आप चला जायेगा। वह कुछ नहीं कर रहा है, अकिंचित्कर है। आस्रव और बंध के मार्ग में ध्यान रखना। कुछ भी काम नहीं कर रहा, यह सुनकर आप चौंक न जायें इसलिए मुझे कहना पड़ा कि आस्रव और बंध के मार्ग में कुछ भी नहीं कर रहा है।

हमें आस्रव और बंध को हटाना है मिथ्यात्व अपने आप हट जायेगा। हाथ जोड़कर चला जायेगा। उसको भेजने का ढंग अलग है। उसे सुनो, जानो और पहचानो। उसको हटाना है तो पहले उसको जानो कि वह करता क्या है? आस्रव और बंध के मार्ग में कुछ भी नहीं करता। यदि आस्रव और बंध के मार्ग में मिथ्यात्व प्रकृति को अकिंचित्कर कह दिया जाये तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। यह चिन्तन करने पर मालूम पड़ेगा। श्रद्धान बनाओगे तो ही आगे बढ़ पाओगे। एक-एक चीज मौलिक है। सुनें, श्रवण करें और यदि आगम के विरुद्ध लगे तो बतायें, बड़ी खुशी की बात होगी, मैं जानने के लिए तैयार हूँ पर एक चिन्तन आप के सामने रख रहा हूँ।

मिथ्यात्व कुछ नहीं करता यह मैं नहीं कह रहा हूँ परन्तु आस्रव और बंध के क्षेत्र में कुछ नहीं करता, यह कह रहा हूँ। यह शब्द देख लो आप, यदि भूल भी जावेंगे तो यह टेपरिकार्डर पास में है ही आपका। यह प्रतिनिधित्व करेगा, यह शब्दों को पकड़ रहा है।

मिथ्यात्व को बंध का हेतु माना है और मिथ्यात्व प्रकृति के माध्यम से सोलह प्रकृतियों का आस्रव होता है। सोलह प्रकृतियों का आस्रव मिथ्यात्व के साथ ही होगा ऐसा आगम का उल्लेख है। तो मिथ्यात्व के साथ ही होगा, इसलिए मिथ्यात्व ने ही किया, सोलह प्रकृतियों का आस्रव। ऐसा आप कह सकते हैं। लेकिन ध्यान रखो आस्रव का माध्यम योग है। योग मिथ्यात्व से अलग चीज है। मिथ्यात्व के साथ ही योग रहता है, यह नियम भी नहीं है क्योंकि यदि मिथ्यात्व के साथ योग रहेगा तो चतुर्थ आदि गुणस्थानों में जहाँ मिथ्यात्व नहीं है वहाँ योग का अभाव मानना पड़ेगा, जबकि योग तो तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक बना रहता है। इसलिये योग के साथ मिथ्यात्व की अन्वय व्याप्ति नहीं है। अत: मिथ्यात्व के आस्रव के लिए भी मिथ्यात्व का उदय मात्र कारण नहीं है। मिथ्यात्व का उदय भी मिथ्यात्व का आस्रव नहीं करा

सकता। आस्रव कराने वाली शक्ति तो अलग है जो आत्मा की वैभाविक परिणति है, उपयोग का एक विपरीत परिणमन है। वह कषाय है।

मिथ्यात्व संबंधी जो सोलह प्रकृतियों का आस्रव होता है उनका आस्रव कराने वाला कौन है? तो यही कहा जायेगा कि जो अनन्तानुबंधी कषाय के साथ योग का परिणमन हो रहा है वह मिथ्यात्व संबंधी सोलह प्रकृतियों का आस्रव करा रहा है। इसके साथ-साथ, अनन्तानुबंधी की जो पच्चीस प्रकृतियां हैं उनका भी वह आस्रव करायेगा। अनन्तानुबंधी का जिस समय अभाव होगा और यदि मिथ्यात्व का उदय भी रहा आता है तो वहां पर न अनन्तानुबंधी संबंधी पच्चीस प्रकृतियों का आस्रव होता है और न ही मिथ्यात्व संबंधी सोलह प्रकृतियों का ही आस्रव होता है क्योंकि कषाय से अनुरंजितयोग प्रवृत्ति ही आस्रव का कारण है, जिसका अभाव है।

मिथ्यात्व की गिनती न ही योग की कोटि में आई है और न ही कषाय की कोटि में मिथ्यात्व को रखा गया है। मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय संबंधी है और कषाय चारित्र-मोहनीय संबंधी है। यही अन्तर है। और योग को पारिणामिक भाव माना गया है। इस तरह मिथ्यात्व की गिनती योग में भी नहीं है। बंधुओ! मिथ्यात्व से डरो मत, डरने से वह भागेगा नहीं। तरीका यही है कि आपत्तिकाल लगा दो। आपत्तिकाल चौथा काल है इसका संबंध न भूत से है, न भविष्य से और न ही वर्तमान से है। यह काल अद्‌भुत काल है चतुर्थ काल की तरह। जैसे चतुर्थकाल कर्मों को हटाने के लिए, मुक्ति प्राप्त कराने के लिए कारण बनता है ऐसा ही यह काल है। मिथ्यात्व के लिए आपत्तिकाल यही है अनन्तानुबंधी कषाय के साथ रहने वाली जो लेश्या है, उसे हटा देना। लेश्या में बदलाहट तीव्रता और मंदता के रूप में होती है। जिस समय हम कषाय को मंद बना लेते हैं उस समय लेश्या शुभ होती है और शुभ लेश्या होते ही अशुभास्रव को धक्का लगना प्रारंभ हो जाता है। शुभ लेश्या आत्मा की ही एक अनन्य परिणति है। आत्मा के पुरुषार्थ का एक फल है। उसे शुभ और अशुभ रूप हम अपने पुरुषार्थ के द्वारा कर सकते हैं। चूँकि सोलह प्रकृतियों का आस्रव जो प्रथम गुणस्थान तक ही होता है वह अनन्तानुबंधी के साथ होता है किन्तु वहाँ मिथ्यात्व का उदय भी रहना आवश्यक है, रहता ही है इसलिए सूत्र में मिथ्यात्व को पहले रक्खा है। साथ ही अनन्तानुबंधी को भी जोड़ दिया है। आप सूत्र को पढ़ें और चिन्तन करें तो अपने आप ही ध्वनि निकलेगी। वहाँ मिथ्यात्व के उपरान्त दूसरा अविरति का नम्बर है।

अविरति का अर्थ है असंयम। असंयम तीन तरह का होता है- ऐसा राजवार्तिक में आया है। ''असंयमस्य त्रिधा, अनन्तानुबंधी अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानोदयत्वात्।'' अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान के उदय में जो असंयम होता है वह असंयम अलग-अलग प्रकार का है। अनन्तानुबंधी जन्य असंयम अलग है और अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान जन्य असंयम अलग है।

तो मिथ्यात्व प्रकृति के जाने के साथ मिथ्यात्व जो जायेगा ही, साथ ही साथ अनन्तानुबंधी उससे पहले जायेगी। इसलिए मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी ये आस्रव के द्वार चले गये दोनों मिलकर के। इसके उपरान्त अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान जन्य अविरति जब दोनों चले जायेंगे तो अविरति समाप्त हो जायेगी। इसके उपरान्त प्रमाद को स्थान मिला है, वह संज्वलन कषाय के तीव्रोदय से संबंध रखता है। इसके बाद कषाय का स्थान है जो मात्र संज्वलन की मंदता की अपेक्षा है और अंत में योग को स्थान दिया जो आत्मा का अशुद्ध पारिणामिक भाव है। उस योग का अभाव, जब तक 'योग' (ध्यान) धारण नहीं करेंगे तब तक नहीं होगा। इस तरह यह बंध के हेतु गुणस्थान क्रम से रखे गये।

मिथ्यात्व सहित जो सोलह प्रकृतियों का आस्रव और अनन्तानुबंधी जन्य पच्चीस प्रकृतियों का आस्रव होता है, ऐसा इकतालीस प्रकृतियों का आस्रव यह कषाय की देन है। कषाय के साथ जो योग है उसकी भी देन है। इस कषाय को हटायेंगे तो मिथ्यात्व संबंधी सोलह और अनन्तानुबंधी संबंधी पच्चीस प्रकृतियाँ सारी की सारी चली जायेंगी। इसलिए सम्यग्दर्शन प्राप्त करते समय की भूमिका में यह जीव जब करणलब्धि के सम्मुख हो जाता है और करणलब्धि में भी जिस समय अनिवृत्तिकरण का काल आता है, उस समय मिथ्यात्व संबंधी सोलह प्रकृतियों के बंध का निषेध किया है। इससे ध्वनि निकलती है कि मिथ्यात्व का उदय सोलह प्रकृति का आस्रव कराने में समर्थ नहीं है। अतः आस्रव और बंध के क्षेत्र में वह अकिंचित्कर है, यह सिद्ध हो जाता है।

मिथ्यात्व क्या काम करता है, यह पूछो तो ध्यान रखो, उसका भी बड़ा अद्भुत कार्य है। मिथ्यात्व जब तक उदय में रहेगा तब तक उस जीव का ज्ञान भी अज्ञान ही कहलायेगा। वह जीव जब अनिवृत्तिकरण के बाद अन्तरकरण कर लेता है और दर्शन मोहनीय के तीन टुकड़े करके मिथ्यात्व का उपशम या क्षयोपशम करके औपशमिक या क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर

लेता है या जब क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करते समय मिथ्यात्व का क्षय करता है, उस प्रसंग में भी अनन्तानुबंधी का क्षय या उपशम पहले बताया है। सम्यग्दर्शन के साथ अनन्तानुबंधी का उदय नियम रूप से नहीं रहता लेकिन दर्शन-मोहनीय की प्रकृति का उदय रह सकता है। दर्शन-मोहनीय की सम्यक्त्व-प्रकृति के उदय में भी सम्यग्दर्शन रह सकता है लेकिन चरित्र मोहनीय की अनन्तानुबंधी संबंधी एक कषाय का भी उदय हो तो ध्यान रखना सम्यग्दर्शन वहाँ नहीं रहेगा।

सम्यग्दर्शन के खिलाफ जितना अनन्तानुबंधी कषाय है उतना दर्शन-मोहनीय भी नहीं। ऐसा सिद्ध हो जाता है। इसलिए आस्रव और बंध के क्षेत्र में जो मिथ्यात्व को हौआ (भय) बना रखा है और जिससे डरा रहे हैं वह हौआ नहीं है, वह आस्रव और बंध के क्षेत्र में अकिंचित्कर है। जो कुछ भी आस्रव का कारण है, वह है-'आतम के अहित विषय कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाये।'

यदि मिथ्यात्व को हटाना चाहते हैं आप लोग और विषय-कषायों में आपकी प्रवृत्ति होती जायेगी तो कभी भी मिथ्यात्व को आप हटा नहीं सकेंगे। मिथ्यात्व को बुलाने वाला बड़ा बाबा अनन्तानुबंधी कषाय है। एक दृष्टि से समझना चाहिये, मिथ्यात्व पुत्र रूप में है और अनन्तानुबंधी कषाय पिता की तरह है या कहो पिता का भी पिता है। क्योंकि मिथ्यात्व का आस्रव कराना, उसे निमंत्रण देना, उसे जगह देना, यह जो भी कार्य है सभी अनन्तानुबंधी कषाय के सद्भाव में होते हैं। जब तक अनन्तानुबंधी कषाय का उदय रहेगा तब तक मिथ्यात्व इन्वहाइटेड (आमंत्रित) रहेगा। मिथ्यात्व का द्वार अनन्तानुबंधी है।

'अनन्तं मिथ्यात्वं यदनुबध्नाति स अनन्तानुबंधी' - मिथ्यात्व रूपी अनन्त को बांधने वाला यदि कोई है तो वह है अनन्तानुबंधी। जो व्यक्ति मिथ्यात्व को कषाय की कोटि में रखकर मिथ्यात्व को हटाने का चिन्तन करता है वह मानो आवागमन के लिए सामने का दरवाजा तो बंद कर रहा है किन्तु पीछे का दरवाजा खुला रख रहा है। अनन्तानुबंधी अनुरंजित योग, यह मिथ्यात्व के लिए कारण है। इसलिए अनन्तानुबंधी का उदय समाप्त होते ही तत्व-चिन्तन की ओर और मिथ्यात्व के ऊपर घन पटकने अर्थात् उसे हटाने की शक्ति आत्मा में जागृत होती है। जिस समय दर्शन-मोहनीय के तीन खण्ड करते हैं उस समय खण्ड करने की जो शक्ति उद्भूत होती है वह अनन्तानुबंधी के उदय के अभाव में होती है। अनन्तानुबंधी का उदय जब तक चलता है तब तक शक्ति होते हुए भी जीव, मिथ्यात्व को चूर-चूर नहीं कर पाता। जैसे

ही अनन्तानुबंधी समाप्त होता है, मिथ्यात्व कह देता है कि मैं भी जा रहा हूँ। मिथ्यात्व इतना कमजोर है। मिथ्यात्व के उदय में भी तत्त्व चिन्तन की धारा चलती रहती है। इकतालीस प्रकृतियों का आस्रव रुक जाता है, यह बात संवर तत्व का प्रसंग आने पर बता दूँगा।

यह सब आत्म-पुरुषार्थ की बात है, उपयोग को केन्द्रीभूत करने की बात है। योग को शुभ के ढांचे में ढालने की प्रक्रिया है। यह पुरुषार्थ आत्मायत्त है, कर्मायत्त नहीं है। इसीलिए धवला में कह दिया कि अर्ध पुद्गल परिवर्तन काल हम अपने पुरुषार्थ के बल पर कर सकते हैं। कथंचित् अर्ध पुद्गल परिवर्तन काल को देखकर सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने की योग्यता बतायी गई है आचार्य वीरसेन स्वामी द्वारा।

इससे सिद्ध होता है कि आत्मा स्वतंत्र है, पर भूला है, भटका है, उसे सुलझाने और सही मार्ग पर लाने की आवश्यकता है। आत्म-पुरुषार्थ के द्वारा इकतालीस प्रकृतियों का जो आश्रयदाता है, अनन्तानुबंधी वह ज्यों ही चला जाता है त्यों ही सम्यग्दर्शन आ जाता है। क्योंकि ''बाधक कारणाभावत्, साधक कारण-सदभावात्''- ऐसा न्याय है कि बाधक कारण के अभाव हो जाने पर या साधक कारण के सद्भाव में साध्य की सिद्धि होती है। इसलिए सम्यग्दर्शन, अनन्तानुबंधी कषाय के जाते ही आयेगा, अवश्य आयेगा। पुनः कहना चाहूँगा कि अनन्तानुबंधी सर्वप्रथम जाती है। कषाय में अगर कोई बड़ा बाबा है तो वह है अनन्तानुबंधी। मिथ्यात्व आस्रव और बंध के क्षेत्र से अकिंचित्कर है, इसे नोट कर लेना।

जब इस तरह आस्रव-तत्व का वास्तविक ज्ञान होता है तब हम आस्रव से बच भी सकते हैं। कहा गया है कि 'बिन जाने से दोष गुनन को कैसे तजिये गहिये।' गुण का ज्ञान और दोष का ज्ञान जब तक नहीं होता, तब तक तो किसी भी प्रकार से हम दोषों से बच नहीं सकते। मोक्षमार्ग में हमारे लिए गुण जो है, वह संवर है और दोष जो है वह है, आस्रव।

मिथ्यात्व के उपरान्त जो आस्रव का कारण है वह है अविरति। वह अविरति अप्रत्याख्यान संबंधी और प्रत्याख्यान संबंधी शेष है। इसको मिटाने का भी वही उपाय है, पुरुषार्थ है, जो आत्मा को आत्मा की ओर केन्द्रित करके विषय-कषायों से बचाने रूप है। इसके उपरान्त आता है प्रमाद यानी संज्वलन कषाय का तीव्रोदय। आत्मा जब अपने आप के प्रति अनुत्सुक हो

जाता है तो प्रमाद कहलाता है। अब आती है कषाय। इसका आशय संज्वलन की मंदता से है। कषाय तीव्र तब कहलाती है जब एक दृष्टि से हम लोग कषाय के उदय में अपनी जागृति खो देते हैं।

'कषायोदयात् तीव्र परिणामः चारित्र मोहस्य'- इसमें व्याख्यायित किया गया है कि तीव्र परिणाम ही कषाय नहीं, कषाय का तो उदय है, तीव्र परिणाम हम कर लेते हैं क्योंकि यदि चारित्र-मोह आत्मा में कषाय के परिणाम पैदा करता रहे तो आत्मा के लिए, पुरुषार्थ करने हेतु जगह ही नहीं है। तो आत्मा इतना परतंत्र नहीं है, वह स्वतंत्र है। निमित्त-नैमित्तिक संबंध की अपेक्षा यह कथन है। प्रमाद के उपरान्त कषाय आती है तो वह संज्वलन के मंदोदय संबंधी है उसको भी पुरुषार्थ से हटा देते हैं, समाप्त कर सकते हैं। अब आती है योग की बात, उसे समझें।

पुण्य और पाप की बात बार-बार हम करते हैं तो ध्यान रखना यहाँ तक पहुँचने पर पाप का आस्रव तो रुक जाता है क्योंकि 'शुभः पुण्याशुभः पापस्य।' यह पाप का आस्रव रुका क्यों? अपने आप रुक गया क्या? नहीं। जो योग अशुभ हो रहा था उसको शुभ बनाया हमने, तो किसके माध्यम से बनाया। अपने आप तो हुआ नहीं। संयम के माध्यम से पाप के आस्रव को रोका जाता है। संयम बिना पाप को रोका ही नही जा सकता इसलिए संयम आस्रव कराने वाला है, ऐसा एकान्त नहीं है। संयम के साथ यदि आत्मा की परिणति संयममयी नहीं है तो उस समय वह शुभ का आस्रव कराता है लेकिन संयम के माध्यम से केवल शुभ का आस्रव होता है, ऐसा भी नहीं है, निर्जरा भी होती है।

कषाय के चले जाने के बाद जो योग शेष रहा उसमें ईर्यापथ आस्रव या केवल पुण्य का आस्रव होता है। कोई नहीं भी चाहो तो भी होता है। जबरदस्ती जैसे कोई लाटरी का रुपया लाकर सामने रख दें तो हम क्या ऐसा कहेंगे कि नहीं चाहिए। तब कहा जाय कि आपके बिना तो कोई इसका पात्र ही नहीं है, आपको लेना ही होगा। ऐसा नहीं है कि रखना चाहो तो रख लो अन्यथा नहीं। यह ऐसा पुण्य का आस्रव है कि रखना ही पड़ेगा। केवल योग मात्र रहने पर तो पुण्य का आस्रव होगा, अवश्य होगा। उसको कोई रोक नहीं सकेगा। अब जब तक योग रहेगा तेरहवें गुणस्थान के अंतिम समय तक तो यह पुण्य का आस्रव करायेगा।

यह योग किसी कर्म की देन नहीं है। यह पहले ही कहा जा चुका है। क्योंकि चारों घातिया कर्म निकल गये फिर भी सयोग-केवली है, योग ज्यों

का त्यों बना हुआ है और शुभ का आस्रव निरन्तर हो रहा है। अब योग से होने वाले आस्रव को रोकना है। केवली भगवान जानते हैं कि जब तक आस्रव द्वार रुकता नहीं तब तक मुझे मुक्ति नहीं, तो उन्हें भी संवर करना होगा। कर्म का संवर नहीं करते वहाँ। वह तो योग का निरोध कर देते हैं। उस योग का निरोध कर देते हैं जो आत्मा का अशुद्ध पारिणामिक भाव है। उसी से कर्म का आस्रव होता है। कषाय के साथ यदि योग है तो अशुभ का आस्रव होता है और कषाय रहित योग रहता है तो केवल शुभ कर्म का आस्रव होगा। इसलिए यदि आप पुण्य से बचना चाहते हो तो संयम से मत बचो बल्कि योग से बचो। योग से बचने का अर्थात योग निरोध करने का उपाय है तृतीय शुक्ल ध्यान। तृतीय शुक्ल ध्यान के बिना योग-निरोध को प्राप्त नहीं होता और जब तक उसका निग्रह नहीं होगा तब तक शुभ का आस्रव होगा। इसलिए आचार्यों ने कहा है कि पुण्य से मत डरो किन्तु उसके फल में ममता भाव रखो। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि पुनाति आत्मानं इति पुण्यम्।

आत्मा को पवित्र कराने वाली सामग्री या रसायन यदि विश्व में कोई है तो वह आत्मा के पास जो शुभ योग है वह है और वही पुण्य है। उस पुण्य के माध्यम से ही केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है लेकिन केवल पुण्य ही होना चाहिये यह भी ध्यान रखना। केवल ज्ञान जिस प्रकार है उसी तरह केवल पुण्य, जिस समय आत्मा को प्राप्त होगा उस समय अन्तर्मुहूर्त के उपरान्त आप केवलज्ञानी बन जाओगे।

यथाख्यात चारित्र जिस समय जीवन में आ जाता है त्यों ही पुण्य का ही मात्र आस्रव होता है और पुण्य मात्र का आस्रव हो तो अन्तर्मुहूर्त के लिए पर्याप्त है आत्मा को केवलज्ञान प्राप्त कराने में। यह प्रसंग दसवें गुणस्थान तक नहीं आ सकता केवल पुण्य का आस्रव दसवें गुण स्थान तक नहीं होता दसवें गुणस्थान के बाद होता है अब इसके उपरान्त मात्र पुण्य जो है वही उस आत्मा को पाप से बचा सकता है किन्तु पुण्य को हटाने वाला कौन? पुण्य के फल को हटाने वाला तो संयम है। संयम पुण्य को नहीं हटा सकता।

आचार्यों ने पंचेन्द्रिय के विषय को विष्ठा कहा है पुण्य को नहीं कहा। यदि पुण्य को विष्ठा कह दें तो केवली भगवान भी उससे लिप्त हो जायेंगे और यह तो आगम का अवर्णवाद है, अवज्ञा है। हाँ, पुण्य की जो इच्छा करता है वह इच्छा है विष्ठा। पुण्य विष्ठा नहीं है। सबसे ज्यादा पुण्य का आस्रव होता है तो यथाख्यात चारित्र के उपरान्त, जो केवली भगवान हैं

उनको होता है किन्तु निरीह वृत्ति होने के कारण उसमें रचते पचते नहीं हैं, रमते नहीं हैं। दुनिया का कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो इतना पुण्य प्राप्त कर ले। तृतीय शुक्ल ध्यान का प्रयोग करके तब वे केवली भगवान शुभ का आस्रव रोक देते हैं। आत्मा से जिस समय योग का निग्रह होता है तो पुण्य का आस्रव भी बंद हो जाता है। और ज्यों ही आस्रव होना रुक जाता है, चौदहवें गुणस्थान में छलांग लगाते हैं, वहाँ भी रुकते नहीं हैं सिद्धत्व प्राप्त कर लेते हैं। योग-निरोध के उपरान्त संसार की स्थिति मात्र अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पंच लघु स्वर अक्षरों के उच्चारण प्रमाण काल शेष रह जाती है और वह मुक्ति के भाजन हो जाते हैं।

चौदहवें गुणस्थान में चार अघातिया कर्म शेष है और उनमें साता वेदनीय भी है, असाता वेदनीय भी है, ऐसा आचार्य कहते हैं। इससे यह फलित हुआ कि वे चारों कर्म उदय को प्राप्त होते हुए भी काम नहीं कर रहे क्योंकि काम करने वाला जो योग था वह चला गया। अब इन चारों कर्मों की निर्जरा के लिए चौथा शुक्ल ध्यान वे अपना लेते हैं। इस तरह योग जो है वह अन्त में जाता है और केवल पुण्य का ही आस्रव कराता है।

इससे यह फलित होता है कि पहले पाप के आस्रव से बचना चाहिये क्योंकि पहले साम्परायिक आस्रव ही रुकेगा, उसके पश्चात् ईर्यापथ आस्रव जो मात्र पुण्य का आस्रव है वह रुकेगा। तो पहले का काम पहले करना चाहिए, बाद का काम बाद में। सौंफ इत्यादि आप पहले खा लो, बाद में रोटी खाओ तो आपको पागल ही कहेंगे लोग। इसलिए भइया! पहले पाप से तो निवृत्त हो और पाप से निवृत्त होने के लिए, पाप के आस्रव को रोकने वाला है संयम, उसे अंगीकार करो। तदुपरान्त पुण्य के आस्रव को रोकने वाला, योग का निग्रह करने वाला तीसरा और चौथा शुक्ल ध्यान आयेगा। यही संक्षेप में समझना चाहिये।

आस्रव-द्वार पाँच है किन्तु पाँच में भी मिथ्यात्व के साथ अनन्तानुबंधी को रख रक्खा है। अविरति, अनन्तानुबंधी के अभाव में भी रहती है इसलिए अविरति से अनन्तानुबंधी का संबंध यहाँ विवक्षित नहीं है यद्यपि अनन्तानुबंधी के साथ ही अविरति रह सकती है, रहती भी है। पर मिथ्यात्व के साथ अनन्तानुबंधी पहले जाती है फिर बाद में मिथ्यात्व जाता है इसलिए जो पहले जाता है उसे पहले भेजना चाहिये और बाद में जाने वाले की फिकर करने की आवश्यकता नहीं है। विषयों में जो बार-बार झंपापात लेता है, अनन्तानुबंधी का स्थूल प्रतीक है। स्थूल है सूक्ष्म नहीं। 'बह्वारम्भ परिग्रहत्वं नारकस्यायुषः'

यह नरकायु का आस्रव भी अनन्तानुबंधी के माध्यम से ही बन सकता है। क्योंकि नरक गति का बंध अनन्तानुबंधी के साथ ही होता है। इतना ही नहीं, 'परात्मनिंदा प्रशंसा सदसद्गुणोच्छाद्नोद्भावेन च नीचैर्गोत्रस्य।" नीच गोत्र का बंध भी अनन्तानुबंधी के साथ होता है। यहाँ मेरा आशय यह है कि जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के लिए आया है उसे यह जानना भी आवश्यक है कि पर की निंदा और अपनी आत्म प्रशंसा अर्थात् पर के गुणों को ढकना और अपनी आत्मा में नहीं होते हुए गुणों को भी प्रकट करना इत्यादि, जो कार्य हैं ये जीव गोत्र का कारण हैं।

नीच गोत्र का आस्रव कहाँ तक होता है? तो जिसने सिद्धान्त ग्रंथ देखे है गोम्मटसार आदि, उन ग्रंथों में इसका उल्लेख मिलता है कि नीच गोत्र का द्वितीयगुणस्थान तक ही आस्रव होता है। इसका अर्थ है अनन्तानुबंधी के माध्यम से ही इसका आस्रव होता है। आजकल यह प्रायः यत्र तत्र देखने सुनने को मिल रहा है। आज उपदेश का प्रयोग भी इतना ही कर लेते हैं कि दूसरे को सुनाकर और उसके माध्यम से किसी दूसरे को नीचा दिखाने का उपक्रम रच लेते हैं।

शास्त्र का प्रयोग/उपयोग अपने लिए है, मात्र दूसरे को समझाने के लिए नहीं है। दूसरा यदि अपने साथ समझ जाता है तो बात अलग है किन्तु उसे बुला-बुलाकर आप उपदेश दोगे तो आगम में कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा कि यह जिनवाणी का एक दृष्टि से अनादर होगा। क्योंकि वह रुचिपूर्वक सुनेगा नहीं अथवा सुनेगा भी तो उसका वह कुप्रयोग कर लेगा और तब सुनाने वाला भी दोष का पात्र बन जायेगा।

बंधुओ! पर की निन्दा करना सम्यग्दर्शन की भूमिका में बन नहीं सकता क्योंकि नीच गोत्र का बंध जो होता है वह अनन्तानुबंधी के भावों के माध्यम से होता है जो मिथ्यात्व को बांधने वाली कषाय है। इसलिए यदि मिथ्यात्व को हटाना चाहते हो तो मंद से मंदतर और मंदतर से मंदतम इस कषाय को बना दो। जब विषय कषायों से बच जाओगे तब चिन्तन की धारा प्रवाहित होगी और तत्व चिन्तन की धारा से हम सम्यग्दर्शन रूपी सरोवर में अवगाहित हो सकते हैं। अपने आप को समर्पित कर सकते हैं। शुद्ध बन सकते हैं, बुद्ध बन सकते हैं। लेकिन इस भूमिका के बिना कुछ भी नहीं बन सकते। जहाँ हैं वहीं पर रह जायेंगे, बातों-बातों तक, चर्चा तक ही बात रह जायेगी।

यह सारी की सारी घटनाएं अन्तर्घटनाएँ हैं, ये बाहरी चीजें नहीं है। मोक्षमार्ग एक अमूर्त मार्ग है। जिसके ऊपर कोई चिन्ह या पद, या कोई निशान, कोई बोर्ड नहीं है। कोई किसी प्रकार के माइल स्टोन नहीं लगे हैं।

यह तो एकमात्र श्रद्धा का विषय है और उसी श्रद्धा से अपने आप को कुछ बना सकते हैं। आप उस श्रद्धा को जागृत कर सकते हैं। भाई विषय-कषायों से आँख मींचो और उन आँखों का प्रयोग अपने आत्म-तत्त्व को जानने के लिए करो तो अपने लिए बहुत जल्दी सही रास्ता प्रशस्त हो सकता है, अन्तर्मुहूर्त में सम्यग्दर्शन को प्राप्त किया जा सकता है और अन्तर्मुहूर्त में ही मुक्ति के भाजक भी हम बन सकते हैं। इस प्रकार आत्मा की एक प्रतिभा है, गरिमा है, महिमा है। उसे पहचानने की आवश्यकता है। क्यों व्यर्थ अनन्त संसार में भटकने का आप उपक्रम कर रहे हो। आप जब भी देखेंगे इस संसार में अनन्त संसार में मिथ्यादृष्टियों की संख्या अधिक रहेगी, सम्यग्दृष्टियों की संख्या सीमित ही रहेगी। इसलिए अपने आप के सम्यग्दर्शन को सुरक्षित रखना चाहते हो तो मिथ्यादर्शन के इस बाजार में से बचना चाहिये।

जल्दी-जल्दी घर की तरफ से मन को मोड़कर अर्थात् आस्रव से मुँह मोड़कर अपने आप की ओर आना ही मोक्षमार्ग है वही, श्रेयस्कर है। बाह्य जितना भी है वह सब भवपद्धति है। संसार का मार्ग है। संसार का मार्ग मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र है। उनके माध्यम से निरन्तर आस्रव ही होता है। अतः संसार मार्ग को छोड़कर संवर मार्ग पर आना चाहिये। जो आस्रव को नहीं जानेगा, आस्रव के कारणों को नहीं जानेगा, कौन से भावों से आस्रव होता है इसको नहीं जानेगा, वह रोकने का उपक्रम भी नहीं कर पायेगा और निंदा का पात्र बना रहेगा। थक जायेगा उस उपक्रम से किन्तु कोई सिद्धि मिलने वाली नहीं है।

आस्रव और बंध के क्षेत्र में मिथ्यात्व अकिंचित्कर है और मिथ्यात्व अनन्तानुबंधी के बाद जाने वाला है इसलिए मिथ्यात्व का आस्रव कराने वाली अनन्तानुबंधी कषाय है और उस अनन्तानुबंधी कषाय को निकालने का उपक्रम यही है कि हमारी जो अशुभ लेश्या है उसको शुभ बना लें, शुभतम बना लें। शुभतम जब लेश्या बनेगी तो अनन्तानुबंधी को धक्का लगेगा। अनन्तानुबंधी चली जायेगी तो उसके माध्यम से होने वाले सारे के सारे आस्रव रुक जायेंगे। मिथ्यात्व भी अपने आप हाथ जोड़कर चला जायेगा।

मिथ्यात्व को हटाने का यह सही रास्ता है। आगमानुकूल है। अन्य जो भी मार्ग है आप स्वयं देखेंगे वे आगम से विपरीत होंगे। मिथ्यात्व को हटाने के लिए यदि अनन्तानुबंधी कषाय को हटाये बिना सर्वप्रथम उसे ही (मिथ्यात्व को) हटाने का आग्रह करेंगे तो भी हटा नहीं सकेंगे। अतः कषायों को मंद करना, उसे हटाना, यही यही मार्ग है, आगम के अनुकूल मार्ग है।

□□

बंध तत्त्व

संसारी प्राणी की दशा अनादिकाल से दयनीय हुई है। यद्यपि यह संसारी प्राणी सुख का इच्छुक है और दु:ख से डरता भी है किन्तु सुख को प्राप्त नहीं कर पा रहा है और दु:ख का विछोह भी नहीं कर पा रहा है। इसमें एक कारण है। चूंकि सुख अनादिकाल से प्राप्त नहीं है, अत: अनादिकाल से दु:ख का अनुभव करने का स्वभाव सा बन गया है, वास्तव में यह विभाव है, लेकिन एकदम स्वभाव के समान हो गया है इसलिए निरन्तर दु:ख के ही कर्म आते जा रहे हैं।

आचार्य कहते हैं कि यह प्राणी प्रत्येक समय उसी दु:ख की सामग्री को ही अपनाता जा रहा है। और सतत् दु:ख का अनुभव कर रहा है। जिस प्रकार आप लोग दुकानदारी में बेलैन्स को मजबूत रखकर दुकानदारी करते हैं उसी प्रकार यह संसारी प्राणी वर्तमान में दुख की सामग्री इकट्ठा करने में लगे हुए हैं। यूँ कहना चाहिये प्रत्येक संसारी प्राणी एक उद्योगपति है और जैसे उद्योगपति कभी भी अपने को फेल नहीं होने देता, बैलेन्स मजबूत बनाये रखता है इसी प्रकार कर्मबंध के क्षेत्र में वह अपने कार्य को करने में सजग है और सुचारू रूप से कार्य को संभाल रहा है और सुख की प्राप्ति और बंध की व्युच्छिति चाहते हुए भी, स्वतंत्र होते हुए भी बंधन का कार्य करता जा रहा है। उसी बंध-तत्व के बारे में आज आपको कुछ सुनाना है, बताना है।

बंध से डरना, यह भव्य का कार्य है। भव्य कहते हैं होनहार को। जैसे आपके परिवार में कई बच्चे होते हैं लेकिन होनहार एकाध को ही आप कहते हैं। इसी तरह मोक्षमार्ग को अपनाने वाले होनहार कुछ प्राणी अलग होते हैं जो बंध से डरते हैं। बंध से डरना इतना ही पर्याप्त नहीं है, बंध के कारणों से डरना यह भी परम आवश्यक है; मुक्ति की प्राप्ति के लिए दस-पंद्रह वर्ष पूर्व की बात है, एक पेड़ के नीचे बैठा था मैं, और देख रहा था उस आक के फूल को जो बहुत हल्का होता है और देखनेमें बहुत सुहावना होता है। रंग भी सफेद होता है उनका। एक बार यदि कोई बच्चा देख ले उसे, तो वह भी उस फूल के समान उड़कर उसको पकड़ने का प्रयास करता है।

मैं देख रहा था, वह फूल बिना हवा के झोंके के भी उड़ता रहता है और ज्यादा हवा आ जाये तो संभाल नहीं पाता अपने आपको और नीचे आकर कोई गीली चीज मिल गयी कि बस वहीं चिपक जाता है। इसको कहते हैं संयोग। ज्यों ही वह चिपक गया, उसका स्वभाव जो उड़ने का था वह समाप्त-प्राय: हो गया। थोड़े ही समय में कब वह पंखुरिया टूट गयीं-कुछ पता नहीं। अब उसका अस्तित्व भी समझ पाना मुश्किल हो गया।

एक बार आर्द्रता के साथ संयोग का यह परिणाम निकलता है तो बार-बार यह जीव रागद्वेष रूपी आर्द्रता का संयोग करता ही रहे तो क्या परिणाम होगा? आप ही सोचो क्या आप उर्ध्वगमन कर सकोगे, जो कि आत्मा का स्वभाव है। जिस प्रकार वह आक का फूल आर्द्रता के संयोग में आ गया और अपने उड़ने के स्वभाव को खो बैठा, उसी प्रकार यह आत्मा प्रत्येक समय, रागद्वेष की संगत में अपने उर्ध्वगमन स्वभाव को भूल गया है और संयोग की सामग्री हर समय खरीदता ही जा रहा है। आगे के लिए बीजारोपण करता जा रहा है।

जिस प्रकार कृषक फसल काटता है और सर्वप्रथम उसको खाने से पहले बीज की व्यवस्था कर लेता है उसी प्रकार आप भी एक कुशल कृषक के समान, कर्मों का फल भोगते भी जा रहे हैं और आगे बोने के लिए बीज (नये कर्म) की व्यवस्था भी कर रहे हैं। प्रत्येक समय नये कर्मों के साथ संयोग हो रहा है और संयोग का अर्थ है बंध।' समीचीन रूपेण योग: इति संयोग: 'या ऐसा कहो कि' समीचीन रूपेण आस्रवणाय इति संयोग:। 'जहाँ संयोग होगा वहाँ आस्रव तो हो ही रहा है। और आस्रव का अर्थ है योग। संयोग के उपरान्त यदि वहाँ आर्द्रता है, चिकनाहट है, रागद्वेष हैं तो बंध हो जाता है।

''अन्योन्य प्रदेशानुप्रवेशात्मको बंध:। कयो:। कर्मात्मनो:।'' कर्म प्रदेशों का आत्म-प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाह हो जाना ही बंध है। कर्म और आत्मा का ऐसा संयोग होने के उपरांत गठबंधन हो जाता है और वे एक दूसरे को स्थान दे देते हैं। दोनों के बीच बंधन हो जाता है, एकमेकता हो जाती है, यही बंध है।

दो के बिना बंध नहीं होता, यह ध्यान रखना। एक हाथ से ताली जिस प्रकार नहीं बज सकती उसी प्रकार बंध तत्व भी एक के बीच में नहीं हो सकता। सांसारिक जो विषय सामग्री है वह और उसका जो भोक्ता है आत्मा, ये दोनो संयोग होते ही बंध जाते है। अब यह देखता है कि यह कैसा बंध हो जाता है? कैसा संबंध हो जाता है?

एक उदाहरण के माध्यम से समझ लें आप। स्कूल में एक बच्चा और बच्ची पढ़ते हैं, बाल्यावस्था की बात है, निर्विकार भाव से पढ़ रहे हैं और भाई-बहन के समान रह रहे हैं। फिर जब पढ़ते-पढ़ते बड़े हो जाते हैं तो अपने-अपने बच्चों के ऊपर माँ पिता का ध्यान जाता है और विचार उत्पन्न होते हैं कि अब वे बड़े हो गये, इनकी शादी कर देनी चाहिये। अब देख लो- वह लड़की की माँ कह देती है अपने पति से। उसके साथ ही साथ लड़के की माँ है, वह कहती है, लड़का बड़ा हो गया, बहू नहीं लाओगे क्या?

दोनों बच्चे अभी तो बचपन में खेलते थे, कूदते थे, साथ-साथ उठते-बैठते थे; तो माँ-पिता ने सोचा प्रेम-भाव भी परस्पर है। दोनों श्रेष्ठ भी हैं इन्हीं का संबंध जोड़ दिया जाये तो बहुत अच्छा है और दोनों का संबंध/विवाह लग्न हो जाता है। लग्न का अर्थ एक दूसरे से मिल जाना, संलग्न हो जाना ही 'समीचीन रूपेण लग्नः संलग्न' दोनों समीचीन रूप से एक विचार में एक आचार में बंध गये। बंध गये का अर्थ कोई रस्सी आदि से बांध दिया है ऐसा नहीं है। संबंध हो गया, पाणिग्रहण हो गया, लेकिन दूरी दिखती है। दूरी होते हुए भी संबंध हो गया।

पहले जो साथ-साथ खेलते कूदते थे, पढ़ते थे अब घूँघट आ गया उस बच्ची के। यह घूँघट ही उस संबंध का प्रतीक हो गया। दोनों अलग-अलग हैं। प्रत्येक कार्य अलग-अलग करते हुए भी जुड़ गये हैं और जीवन में परिवर्तन आ गया है। यह वैवाहिक संबंध भी अपने आप में एक थ्योरी (सिद्धांत) रखता है। जीव के आचार-विचार एकमेक हो जाते हैं अगर आचार एक नहीं रहेगा, विचार एक से नहीं रहेंगे तो विघटन आ जायेगा, वह संबंध विघटित हो जायेगा।

इससे यह फलित हुआ कि संबंध दो के बिना नहीं चलता और दोनों में एकमेकता भी होनी चाहिये। 'अन्योन्यप्रदेशानुप्रवेश' का अर्थ भी यह है कि एक दूसरे में घुल मिल जाना। जैसे नट और बोल्ट है कि एक को खींचो तो दूसरा भी साथ में खिंचकर चला आता है। यह है बंध की प्रक्रिया। जिस व्यक्ति का विवाह संबंध संस्कार के साथ हुआ होता है वह जीवत्व के प्रति वास्तविक वात्सल्य का प्रतीक है। जिनको संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होने की अभी सामर्थ्य नहीं है वे कुछ दिन गृहस्थ आश्रम में रहकर देख लें लेकिन उसके उपरान्त उसको भी पार करके निकल जायें तभी सार्थकता होगी। इन सांसारिक वैवाहिक बंधनों के समान ही धार्मिक क्षेत्र में बंध तत्व है।

"इसका कोई न कर्त्ता हर्त्ता अमिट अनादि है, जीव अरु पुद्गल नाचै यामें कर्म उपाधि है।' इस संसार को बनाने वाला या नष्ट करने वाला कोई नहीं है। यह तो अनादिकाल से है और अनन्त काल तक रहेगा। जीव अपने परिणामों से पुद्गल कर्म के संयोग से इस लोक में भ्रमण करता रहता है। यह कर्मबंध ऐसा है कि अब एक निश्चित काल के लिए न तो पुद्गल पृथक् हो सकता है और न ही आत्मा पृथक् हो सकती है। दोनों के बीच एक क्षेत्रावगाह संबंध हो जाता है कि दोनों छूट नहीं सकते किसी अलौकिक रसायन के बिना।

आप पूछ सकते हैं कि महाराज! यदि आत्मा मूर्त्त कर्म के साथ संबंध करता है तो क्या वह भी मूर्त है। क्योंकि अमूर्त के साथ मूर्त का संबंध हो ही नहीं सकता। हाँ भइया, वर्तमान में संसारी जीव की आत्मा मूर्त है लेकिन वह पुद्गल के समान मूर्त नहीं है स्पर्श, रस, गंध और रूप वाला। वह तो चैतन्य है। जड़ तत्व की संगत में आने से मूर्त बन गया है। मूर्त हुए बिना मूर्त के साथ संबंध होगा ही नहीं। लौकिक दृष्टि से भी जैनाचार्यों ने कहा है कि देवों के साथ मनुष्यों का व्यावहारिक काम संबंध नहीं हो सकता क्योंकि देव वैक्रियिक शरीर वाले हैं और मनुष्य का शरीर औदारिक है।

इस मूर्त का मूर्त से संबंध समझाने के लिए कुछ लोग आकर कह देते हैं कि आत्मा तो अलग ही रह जाता है और कर्म, कर्म के साथ बंध जाता है किन्तु ऐसा नहीं है। विचार करें कि' कर्मः कर्मणोः अन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मको बंधः' अथवा 'आत्माननोः अन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मको बंधः।' ऐसा तो जैनाचार्यों ने लिखा नहीं है। इसलिए यह प्रश्न तो ज्यों का त्यों बना रहता है कि अमूर्त के साथ मूर्त का संबंध कैसे होता है? इसी का समाधान देते हुए आचार्यों ने कहा है कि संसारी जीव के प्रति ऐसा एकान्त नहीं कि वह अमूर्त ही है।

'मूर्तोपि ह्यात्मा संसारापेक्षा' अर्थात् संसारी जीव कथंचित् मूर्त होता है। अनादि से इसका स्वभाव बिगड़ गया है। इसलिए यह मूर्त कर्म के साथ अनादिकाल से मूर्तपने का अनुभव कर रहा है किंतु वह चैतन्यमूर्ति है। यदि अपनी आत्मा को वर्तमान में कथंचित् मूर्त मानेंगे तभी अमूर्त बनने का प्रयास भी होगा अन्यथा नहीं होगा। साथ ही साथ वर्तमान में आत्मा मूर्त है लेकिन अमूर्तपना आ सकता है, इस प्रकार का जब विश्वास करेंगे आप, तभी आप के प्रयास सफलता कहलायेंगे, अन्यथा नहीं।

आत्मा में जो मूर्तपना आया है वह पुनः वापिस अमूर्त में ढल सकता है क्योंकि वह संयोगजन्य है, स्वभावजन्य नहीं। इस प्रकार एक अलग ही क्वालिटी का मूर्तपना इस जीव में आया है। इसे उदाहरण के माध्यम से समझा जा सकता है। आप लोगों को यह विदित होगा कि बाजार में कई प्रकार की भस्में आती हैं, लोह भस्म है, स्वर्ण भस्म है, मोती भस्म है। ऐसी ही एक पारद भस्म (पारे की भस्म) आती है। पारे को जलाया जाता है बहुत घंटों तक। तब वह पारा भस्म के रूप में परिवर्तित हो जाता है और औषधि इत्यादि के रूप में काम आता है। यदि पारा खा लोगे तो वह नुकसान कर जायेगा, शरीर में नहीं टिकेगा, शरीर सारा का सारा विकृत हो जायेगा। पारे को सामान्यतः कोई पकड़ भी नहीं सकता क्योंकि वह शुद्ध तत्व है। विशुद्ध-तत्व हाथ से पकड़ में नहीं आता जैसे सिद्ध परमेष्ठी को आप पकड़ नहीं सकते। अर्हन्त परमेष्ठी संसार दशा में स्थित होने से अभी पकड़ में आते हैं क्योंकि मूर्त है।

इसका अर्थ यह हो गया कि वह पारा अपनी शुद्ध दशा में मूर्त होकर भी अभी पकड़ में नहीं आ रहा है किन्तु घंटों जलते रहने के बाद वह जब भस्म के रूप परिणत हो जाता है तो पकड़ में आने लगता है और वैद्य लोग उसे औषधि के रूप में प्रयोग में लाते हैं। लेकिन एक बात और ध्यान में रखना कि इस पारे की भस्म की यह विशेषता है कि इसे खा लेने के उपरान्त यदि खटाई का प्रयोग हो गया पुनः वह अपनी सहज दशा में आ जायेगा और शरीर को विकृत कर देगा।

ठीक इसी प्रकार यह आत्मा रागद्वेष रूपी अग्नि के माध्यम से यद्यपि पारे की भस्म के समान हो गया है, पकड़ में आने लगा है तथापि यदि चाहे तो वह अपनी शुद्ध अवस्था में भी पहुँच सकता है। वर्तमान में यदि हम आत्मा को मूर्त नहीं मानेंगे तो बंध-तत्व की अवस्था नहीं हो सकेगी और 'बंधापेक्षः मोक्षः'- बंध की अपेक्षा से मुक्ति है तो मोक्ष-तत्व भी सिद्ध नहीं हो पायेगा और मोक्ष तत्व के अभाव में संसार भी नहीं रहेगा, अन्य द्रव्य भी नहीं रहेंगे जो कि संभव नहीं है। अतः वर्तमान में अपने आत्मा को मूर्त मानना होगा और उसे अमूर्त बनाने के लिए निःशंक होकर मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होना होगा।

कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि 'अबद्धः अस्पृष्टः आत्मा', यह आत्मा अबद्ध है, अस्पृष्ट है लेकिन संसार दशा में विवक्षा भेद से कंथचित् बद्ध भी

है और स्पृष्ट भी है। जो जीव भावना भाता है वह उस भावना के माध्यम से अबद्ध/शुद्ध बन सकता हैं यदि हम बद्ध ही नहीं है- ऐसा एकान्त से मान लेंगे तो फिर भावनाओं की क्या आवश्यकता है, इसीलिए आचार्यों ने कहा कि अबद्ध बनने के लिए, 'मैं अबद्ध हूँ'- ऐसी भावना यदि जीव भायेगा तो वह अबद्ध बनने की ओर अग्रसर होगा, अन्यथा नहीं।

एक सूत्र आता है मोक्षशास्त्र में 'विग्रहगतौ कर्मयोगः' एक गति से जीव दूसरी गति तक शरीर रचना के लिए जाता है तो विग्रह गति होती है और उस समय मात्र कर्म की ही सत्ता चलती है। वहाँ मात्र कार्मण काययोग रहता है। अब यदि कोई ऐसा मानें कि कर्म तो मात्र कर्म से बंधे हैं, आत्मा तो अलग ही रहता है तो इस स्थिति में कर्म, कर्म को ही खींचते चले जाना चाहिये और आत्मा को वहीं पर रह जाना चाहिये, लेकिन ऐसा नहीं होता। उस आत्मा को भी कर्म के साथ नरक आदि गतियों में जाना पड़ता है और अधिकतम तीन समय तक अनाहारक भी रहना पड़ता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि कर्म के साथ आत्मा का गठंबधन हुआ है, एक क्षेत्रावगाह संबंध हुआ है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

अब उस आत्मा को अमूर्त कैसे बनाया जाये, वह प्रश्न उठेगा ही। तो कोई बात नहीं, हमारे पास आ जाओ इधर। वीतरागता के पास आ जाओ। वीतरागता रूपी खटाई का संयोग प्राप्त होते ही यह आत्मरूपी पारद भस्म अपने आप ही सहज दशा में आ जायेगी। कर्म वर्गणाएं पृथक् हो जायेंगी।

चार प्रकार के बंध होते हैं अर्थात् जो आगत कर्म है इनमें चार प्रकार के भेद पड़ते हैं। आत्मा के योग के माध्यम से प्रकृति और प्रदेश बंध होता है तथा कषाय के माध्यम से स्थिति और अनुभाग बंध होता है। कितने कर्म आ रहे हैं कार्मण वर्गणाओं के रूप में परिणत होकर, इसको कहते हैं प्रदेश बंध और कौन सा धर्म क्या काम करेगा अर्थात् उसका नेचर (स्वभाव) ही प्रकृति बंध है। इसके उपरान्त कषायके द्वारा काल मर्यादा और फलदान शक्ति को लेकर क्रमशः स्थिति और अनुभाग बंध होते हैं।

सर्वप्रथम आती है अनन्तानुबंधी कषाय। जैसे किसी मेहमान को निमंत्रण दे दें आप, और जब वह आ जाये तो कह देते हैं कि यहीं रहो भइया, तुम्हें यहाँ से कोई निकालने वाला नहीं है। आराम से रहो और खाओ पिओ बस। इसी प्रकार अनन्तानुबंधी कषाय जब तीव्र होती है तो मिथ्यात्व को सत्तर कोड़ा कोड़ी सागर तक के लिए आत्मा के साथ एक प्रकार का ऐशो आराम

सा मिल जाता है। इतनी अधिक स्थिति वाला कर्म-बंध होता है इस कषाय के द्वारा। वह सत्तर कोड़ा कोड़ी सागर तक के लिए मिथ्यात्व को निमंत्रण देने वाला, अनन्तानुबंधी कषाय वाला मुख्य रूप से मनुष्य गति का जीव है। अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ ये अत्यधिक मनुष्य ही कर सकता है। और वह भी भोगभूमि का मनुष्य नहीं बल्कि कर्मभूमि का मनुष्य।

इस तरह जो स्थिति और अनुभाग बंध है, इनके द्वारा कर्म एक निश्चित समय के लिए बंध जाते हैं और उसके उपरान्त अपना फल देते हैं। जो भी बंध हो रहा है वह जीव की एक ऐसी गलती है जिसके माध्यम से कर्म आकर चिपक जाते हैं। यदि कर्म बांधना नहीं है बल्कि मुक्त होना है तो उसके लिए एक ही रास्ता है, एक ही साधन है कि हम वीतरागता रूपी खटाई का प्रयोग करें, अनुपान करें और आत्मा जो मूर्त बना है उसे अमूर्त बना लें।

प्रसंगवश वह विषय यहाँ पर ले रहा हूँ कि अनन्तानुबंधी से बचने के लिए क्या करे? इससे बचने के उत्तम उपाय यही है कि आप जिस किसी भी क्षेत्र में कार्य करते हैं वहाँ अपनी नीति और न्याय को न भूलें। भले ही वह वैश्य हो, क्षत्रिय हो, ब्राह्मण हो या नौकर चाकर, सेठ-साहूकार जो भी हों, अपनी-अपनी नीति न्याय को न भूलें। आचार्यों ने जो चारित्र का पथ प्रशस्त किया है उस पर श्रद्धा सहित चलते रहने का तात्पर्य यहीं है कि हम कम से कम पापों से, कषायों से अपने को बचा सकें। जो मोक्षमार्ग पर आना चाहते हैं, कर्म बंध से बचना चाहते हैं उनके लिए न्याय-नीति पूर्वक स्वयं को संभालने की बड़ी आवश्यकता है। सदाचार पालन करने की बड़ी आवश्यकता है।

कर्म सिद्धान्त पर जिसका विश्वास है वह व्यक्ति येन केन प्रकारेण कोई भी कार्य नहीं करेगा। वह कार्य करने से पूर्व विचार अवश्य करेगा। मेरे इस कार्य को करने से अन्य किसी को कोई आघात तो नहीं पहुँच रहा है- ऐसा पूर्वापर वह अवश्य सोचेगा। कुल परम्परा से जो चारित्र आया है उसको हम पालन करते रहते हैं और इसे कहते हैं चारित्र-आर्य। लेकिन हम इस तरह चारित्र-आर्य होकर भी, भगवान महावीर के सच्चे उपासक होकर भी क्या इतने नियामक नहीं बन सकते हैं कि अपना प्रत्येक कार्य नीति और न्याय के आधार पर ही करेंगे। मात्र प्रवचन सुन करके, तीर्थयात्रा करके या दान पूजा इत्यादि करके क्या आप महावीर भगवान को खुश करना चाहते हैं? इतने मात्र से आप कुछ नहीं कर सकेंगे भइया।

"एक व्यक्ति ने आकर कहा कि महाराज, मैंने त्याग कर दिया है आलू, तो मैंने भी कहा भइया, बिल्कुल आप हो दयालु, फिर भी चोरी करना है चालू, बकरी के सामने बन बैठे हो भालूँ।" हमारे आचार्यों की त्याग के प्रति बहुत सूक्ष्म दृष्टि रही है। किस प्रकार का त्याग करना और कैसे करना, यह जानना अनिवार्य है। आलू का त्याग करने मात्र से कुछ नहीं होने वाला। सर्वप्रथम जो भी व्यक्ति महावीर भगवान् के बताये हुए मार्ग पर आरूढ़ होना चाहते हैं, उन्हें सबसे पहले जीवों की रक्षा करनी चाहिये।

प्रत्येक व्यक्ति आत्मा के उत्थान की ओर अग्रसर हो सकता है इसलिए सर्वप्रथम तो प्रत्येक प्राणी के प्रति दया भाव होना चाहिये। संकल्पी हिंसा का त्याग पहले आवश्यक है और उसमें भी मनुष्य की हिंसा से बचना- ऐसा कहा गया है क्योंकि प्रत्येक मनुष्य के पास यह क्षमता है कि वह मुनि बन सकता हैं और इस मुनि अवस्था में, उस पवित्र आत्मा के माध्यम से, उसके दर्शन मात्र से असंख्यात जीवों के अनन्तकालीन पाप कट सकते हैं। इतनी क्षमता है उस मुनिमुद्रा में, वीतराग मुद्रा में। वह मुनिमुद्रा बाह्य में ही नहीं, अन्तरंग में बैठे अमूर्त आत्म तत्व के बारे में भी बिना बोले ही अपनी वीतरागता के माध्यम से तिर्यचों तक को उपदेश देती है।

इसलिये आज यह संकल्प कर लेना चाहिये कि अपने जीवन में मात्र अपनी विषय-वासनाओं की पूर्ति के लिए किसी संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्य का घात नहीं करेंगे, उस पर अपने बल का प्रयोग नहीं करेंगे। अभयदान की यही क्षमता सभी के पास होनी चाहिये। जो अपने क्षणिक सुखों की तिलांजलि देकर अन्याय छोड़ने और दूसरे के जीवन को बचाने के लिए तैयार हैं वही सच्चा महावीर भगवान का उपासक है।

वही दान, सच्चा दान कहलाता है जो नीति-न्याय से कमाने के उपरान्त कुछ बच जाने पर दिया जाता है। ऐसा नहीं है कि दूसरे का गला दबाकर, आगे बढ़कर दान कर देना। गत वर्ष की बात है कुण्डलपुर जी में लोग बोलियां बोल रहे थे। एक ने पचास रुपये कहा तो दूसरे ने पचपन रुपये कह दिया। पचास रुपये बोलने वाला अब कह देता है कि पचपन रुपये वाले की बोली है, वही देगा। यह क्या है? भगवान के सामने बैठकर ऐसा कह देते हैं आप और अपने को दानी घोषित करना चाहते हैं।

यह मात्र लोभ कषाय के वशीभूत होकर चोरी, जारी, अनाचार, अत्याचार करके कमाये हुये पैसे को यही मंदिर में आकर मान-कषाय को पुष्ट

करने के लिए दान दे देना, यह दान नहीं है। अन्याय करने के उपरान्त यह नहीं सोचना चाहिये कि भगवान कहाँ देख रहे हैं। भगवान को सर्वव्यापी और विश्व लोचन कहा है। वह केवलज्ञान ऐसा है जो सभी को एक साथ देख लेता है। इसलिए जो व्यापारी हैं वे संकल्प करें कि उनकी दुकान पर जो भी व्यक्ति आता है उसे नीति-न्याय पूर्वक हम सामग्री देंगे, वस्तु देंगे। इसी प्रकार जो और दूसरे कार्य करते हैं वे भी अपना कार्य न्यायपूर्वक करें।

'मरहम पट्टी बांधकर, व्रण का कर उपचार, यदि ऐसा न कर सके, डंडा तो मत मार।' कम से कम किसी के घावों के ऊपर मरहम पट्टी नहीं लगाना चाहते या लगाने की शक्ति नहीं है तो उसे डंडा तो मत मारो। कम से कम आँख खोलकर तो चलो, किसी के ऊपर पैर रखकर उसका घात तो मत करो, वह भी तो हमारे समान जीव ही है। जो व्यक्ति प्रत्येक जीव-तत्व के प्रति वात्सल्य नहीं रखता, वह भगवान के प्रति वात्सल्य रखता होगा- यह संभव ही नहीं है। जो जीव है उनके ऊपर वही वात्सल्य, वही प्रेम, वही अनुकम्पा होनी चाहिये जो भगवान के प्रति आपकी होती है, यही जीव-तत्व का सच्चा श्रद्धान है।

एक आस्तिक्य गुण कहा गया है जो सम्यग्दृष्टि के पास होता है। आस्तिक्य गुण का अर्थ यह नहीं है कि मात्र अपने अस्तित्व को ही स्वीकार करना। दुनिया में जितने पदार्थ हैं उसको यथावत् उसी रूप में स्वीकार करना यह आस्तिक्य गुण है। जो दूसरों के भी जीवत्व को देखता है उसे ही आचार्यों ने आस्तिक्य कहा है अन्यथा वह नास्तिक है। जो दूसरे में जीवत्व देखेगा वह कभी भी विषयों का लोलुपी बनकर उनके घात का भाव नहीं लायेगा। गृहस्थाश्रम में कम से कम यदि किसी को कुछ दे नहीं सकते तो उससे हड़पने का भाव भी नहीं लाना चाहिये।

भाई! राम बनो, रावण मत बनो। राम के पास भी पत्नी थी और रावण के पास तो राम से भी ज्यादा थीं क्योंकि वह प्रतिनारायण था। लेकिन भूमिगोचरी राम की पत्नी सीता पर उसने दृष्टिपात किया और उसका हरण भी किया। इतना ही नहीं, राम-लक्ष्मण दोनों को मारने का संकल्प भी किया, क्योंकि जब तक राम रहेंगे, सीता रावण की नहीं हो सकेगी। सीता यथापि राम के लिए भोग्या थीं और रावण की दृष्टि में भी भोग्या थीं लेकिन रावण की दूषित दृष्टि में सीता मात्र भोग्या थीं और कुछ नहीं, जीवत्व की ओर रावण का ध्यान नहीं था। जीवत्व की ओर ध्यान तो राम ने दिया। राम के लिए सीता मात्र पत्नी या भोग्य नहीं थी वरन् अपने मार्ग पर चलते हुए राम

ने उन्हें सहगामी भी माना। इसलिए उनकी सुरक्षा का उत्तरदायित्व भी राम ने अपने ऊपर माना।

राम ने स्पष्ट कह दिया कि मैं रावण से सीता को वापिस लाऊँगा, भले ही लड़ना पड़े। यह संकल्पी हिंसा नहीं थी, मात्र विरोधी हिंसा थी। उन्होंने कहा कि मैं रावण का विरोध करूंगा अन्यथा जैसे सीता चली गयीं, वैसे ही राज्य की अन्य रानियाँ चली जायेंगी, सभी के प्राण संकट में पड़ जायेंगे। वे सीता को वापिस लाये और अग्नि-परीक्षा भी हुई। उसके उपरान्त सीता जी ने कह दिया कि मैं अब आर्यिका माता बनूँगी और यह श्रीराम की विशेषता थी कि जिस समय सीता दीक्षा ले लेती हैं, आर्यिका बन जाती हैं उसी समय राम कहते हैं कि नमोस्तु माताजी! धन्य है आपका जीवन। मैं भी शीघ्र ही आ रहा हूँ आपके पथ पर।

राम ने सीता जी को दीक्षा लेते ही नमोस्तु किया और मातेश्वरी कहा। यह है सम्यग्दृष्टि राम की दृष्टि और मिथ्यादृष्टि रावण की दृष्टि देखो कि मरते वक्त तक वह यही कहता रहा कि राम मैं तुम्हें मारूँगा और सीता को लूँगा। यही कारण है कि राम की पूजा होती है, रावण की नहीं। अत: न्याय नीति के अनुसार अपना व्यवहार रखना चाहिये। आज कौन-सा ऐसा व्यक्ति है जो सरकारी क्षेत्र में नौकरी करता हो और सरकार को यह विश्वास दिलाता है कि मैं कभी रिश्वत नहीं लूँगा। कोई भी सरकार रहे, वह कभी भी आपको भूखा नहीं मारना चाहती। आपकी संतान नाबालिग रह जाये तो भी आपके मरने के बाद उसका प्रबंध कर देती है। हमें भी सरकार के प्रति अपना कर्तव्य निभाना चाहिये और नियम के विरुद्ध कार्य नहीं करना चाहिये।

कई लोग आकर कहते हैं कि हम नौकरी करते हैं। बहुत बंधकर के रहना पड़ता है, छुट्टी नहीं मिलती, धर्म ध्यान नहीं कर पाते और अक्सर देखने में यही आता है कि जब कोई सांसरिक वैवाहिक कार्य आ जाता है तो डॉक्टर से मेडीकल सर्टिफिकेट लेकर लगा देते हैं और छुट्टी ले लेते हैं। यह तो दुगना अन्याय है। एक डॉक्टर जिसने एम.बी.बी.एस. किया और वह निरोगी व्यक्ति को रोगी कहकर सर्टिफिकेट देता है और उसके माध्यम से रिश्वत खाता है, साथ ही वह व्यक्ति भी जो सरकार को धोखा देकर अन्याय करता है तब संयोगवश ऐसे व्यक्ति को रोग न होते हुए भी रोग आ जाते हैं। यह साइकोलॉजीकल इफेक्ट होता है और उसका सारा का सारा पैसा दवा इत्यादि में ही समाप्त हो जाता है। मन में भय बना रहता है कि कहीं झूठ मालूम न पड़ जाये और नौकरी न चली जाये।

भइया, सत्य को बेचना नहीं चाहिये थोड़े से पैसों के लिए। सत्य तो सत्य है, आत्मा का एक गुण है और आत्मा के संस्कार जन्म-जन्मान्तरों तक चले जाते हैं। सत्य को छोड़कर मात्र इन्द्रिय सुखों के लिए असत्य का आश्रय नहीं लेना चाहिये। अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि धर्म का पालन करना चाहिये जिनके माध्यम से आत्म-बल जागृत होता है।

यह कषायों को समाप्त करने की बात है। यह सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए भूमिका की बात है। क्योंकि अनन्तानुबंधी कषाय के घात होने पर ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति संभव है, अन्यथा नहीं। सम्यग्दर्शन को मात्र चर्चा का विषय नहीं मानना चाहिये, कुछ अर्चा भी करनी चाहिये और अर्चा वही है कि हम दर्शन-आर्य बन जायें और सच्चे देवगुरु-शास्त्र के प्रति सच्चा श्रद्धान रखें और आगे बढ़कर उस अनन्तानुबंधी कषाय को अपने मार्ग से हटा दें। मिथ्यात्व को भगा दें, तभी सार्थकता होगी इस जीवन की।

अंत में आपसे इतना ही कहना चाहूँगा कि आत्मा वर्तमान संसारी दशा में अमूर्त नहीं है, वीतरागता के माध्यम से यह अमूर्त बन सकती है। कर्म का संबंध आत्मा से अनादिकालीन है और मात्र कर्म, कर्म से नहीं बंधा है बल्कि कर्म और आत्मा का एक क्षेत्रावगाह संबंध हुआ है। उसका विघटन या तो सविपाक निर्जरा के माध्यम से हो सकता है अथवा अविपाक निर्जरा के माध्यम से, किन्तु सविपाक निर्जरा के द्वारा जो विघटन होगा उसमें आगे के लिए संतति अर्थात् नये कर्म की प्राप्ति होगी, जैसे भोगभूमि का जोड़ा। भोगभूमि के जोड़े ऐसे हैं कि जीवन के अन्तिम समय तक भोग भोगते रहते हैं किन्तु संतान नहीं होती लेकिन जब आयु समाप्त होने लगती है तो संतान छोड़कर ही जाते हैं। ऐसे ही सविपाक निर्जरा से एक कर्मबंध तो समाप्त हो जाता है परन्तु आगे के लिए नया कर्मबंध भी होता रहता हैं। इसलिए कर्मबंध की परम्परा की समाप्त करने के लिए अविपाक निर्जरा का आलंबन लेना चाहिये। 'तपसा निर्जरा च'- तप के द्वारा संवर भी होता है और तप के द्वारा अविपाक निर्जरा भी होती है। श्रावक को अपनी भूमिका के अनुसार न्याय -नीति पूर्वक चलना चाहिये। सम्यग्दर्शन की भूमिका भी वही है कि हम कषायों को कम करें और सत्य का अनुसरण करने का प्रयास करें।

बंध-तत्व को समझने और मुक्त होने का यही उपाय है।

□□

संवर तत्त्व

आस्रव और बंध का परिचय अनादिकाल से मोह के फलस्वरूप अनन्तों बार प्राप्त हो चुका है। संसार के निर्माता आस्रव और बंध हैं। मोक्ष के निर्माता संवर और निर्जरा हैं। आज इसी संवर तत्त्व को समझना है। संवर का अर्थ बहुत सीधा सादा है। जैसे कोई एक संकीर्ण रास्ता है और बहुत भारी भीड़ घुस रही हो तो वहाँ क्या किया जाता है? आप परिचित हैं-आहार के समय चौके के द्वार पर आकर जैसे खड़े हो जाते दो स्वंयसेवक और सारी की सारी भीड़ को भीतर आने से रोक देते हैं। कभी-कभी बाहर की भीड़ घुस रही है और अंदर वाले उसका निषेध कर रहे हैं, ऐसा भी होता है। यही संवर है। 'आस्रव निरोधः संवरः' आने के मार्ग को रोकना यह संवर कहलाता है।

इसके लिए शक्ति आवश्यक है। बिना शक्ति के काम नहीं हो सकता। नदी का प्रवाह बहता जाता है दोनों तटों के माध्यम से किन्तु उस प्रवाह को जिस स्थान पर रोका जाता है वहाँ बड़े-बड़े वैज्ञानिक, इंजीनियर अपना माथा लगा देते हैं अर्थात् दिन रात चिन्तन करते हैं कि यदि यहाँ बाँध, बांध दिया जाये तो पानी टिकेगा, रुकेगा या नहीं। पानी के वेग को बह बांध झेल पायेगा या नहीं। बहुत विचार विमर्श होते हैं, अनेक प्रकार की स्कीम बनती हैं उसके उपरान्त बांध का निर्माण होता है, पानी को रोका जाता है।

इस तरह पानी का संनिरोध किये जाने से बड़ी जिम्मेदारी हो जाती है। पानी बहता रहता है तो वहाँ कोई-बोर्ड लिखा हुआ नहीं रहता कि 'डेन्जर' (खतरा), लेकिन जहाँ बाँध बंध जाता है वहाँ अवश्य लिखा रहता है कि खतरा है, सावधानी बरतें। पानी ज्यादा हो जाये तो उसे निकाल देते हैं क्योंकि बाढ़ आने पर उतनी जनहानि नहीं होती जितनी की बाँध टूट जाये तब होती है।

इसी तरह मोक्षमार्ग में भी है। अनादिकालीन रागद्वेष और मोह के माध्यम से जो कर्मों का आस्रव रूपी प्रवाह अविरल रूप से आ रहा है और जिसको हम अपने पुरुषार्थ के बल पर उपयोग रूपी बाँध के द्वारा बांध देते हैं तो वह कर्मों के आने का द्वार रुक जाता है, संवर हो जाता है। इसमें बड़ी शक्ति लगती है। ध्यान रखो, यहाँ न मन काम करता है, न वचन और न ही

काय-बल काम करता है, यहाँ तो उपयोग काम करता है जो आत्मा का अनन्य गुण है। कहना चाहिये कि आत्म-शक्ति ही उस कर्म-प्रवाह को रोक सकती है।

कर्म-प्रवाह का एक बल अपने आप में है और अनादिकाल से उसी का बल ज्यादा बना हुआ है इसलिए कमजोर उपयोग वाला बाँध यहाँ उसी प्रकार ढह जाता है जिस प्रकार सीमेंट की जगह मिट्टी आदि का उपयोग करके जो बाँध, बांध दिया जाता है और जो एक ही बार तेज बारिश में बह जाता है। यह तो मात्र पानी की बाढ़ होती है, कर्मों को बाढ़ भी ऐसी ही आती है।

आचार्य उमास्वामी ने कर्मों के आने के द्वारा बताये हैं एक सौ आठ, अर्थात् एक सौ आठ प्रकार से ही वह आस्रव होता है। मन से, वचन से, काय से, कृत से, कारित से, अनुमोदना से, फिर समरम्भ, समारम्भ और आरम्भ से। इसके उपरान्त क्रोध, मान, माया, लोभ इन सबको परस्पर गुणित किया जाए तो संख्या एक सौ आठ आती है। इसीलिए माला (जाप) में भी एक सौ आठ मणियाँ शायद रखी गयी है और तीन मणियाँ सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की हैं, जो इस आस्रव के निरोध की प्रतीक है।

आत्म-प्रदेशों पर आने वाले कर्म प्रवाह को रोकने का जो उपक्रम है वह आत्मा को अवनति से उन्नति की ओर ले जाता है। संसार-मार्ग से मोक्षमार्ग की ओर ले जाता है और यह पतित से पावन बनने का उपक्रम संवर तत्व द्वारा चलता है। इसी कारण निर्जरा तत्व से संवर तत्व अपने आप में महत्वपूर्ण है। निर्जरा, संवर के बाद ही ठीक है। यह क्रम अच्छा है क्योंकि संवर हुए बिना जो निर्जरा है उस निर्जरा से कोई काम नहीं निकलता। संवर का अर्थ है एक प्रकार से लड़ना। दुनिया के साथ आप लोग अनेक प्रकार के शास्त्रास्त्र का प्रयोग लड़ने के लिए करते हैं लेकिन जो कर्म आत्मा में निरन्तर आ रहे हैं उन्हें रोकने के लिए उनसे लड़ने के उपक्रम करना आवश्यक है। इसके लिए हमारे आचार्य उमास्वामी महाराज ने मोक्षशास्त्र ग्रंथ के नौवें अध्याय के प्रारम्भ में ही कह दिया है 'आस्रव निरोध संवरः' निरोध करना 'रुध' धातु से बना है जिसका अर्थ रुकना है। ऐसे कौन से परिणाम है जिनके माध्यम से कर्मों के आने के द्वार को बंद किया जा सकता है, रोका जा सकता है। इसके लिए भी आचार्य महाराज ने आगे अलग सूत्र में बात कही है कि "स गुप्ति समिति धर्मानुप्रेक्षा परीषहजय चारित्रैः।"

जो व्यक्ति मोक्षमार्ग पर चलता है, चलना चाहता हैं उसके लिए सर्वप्रथम संवर तत्त्व आपेक्षित है और संवर तत्व को निष्पन्न करने के लिए जो भी

समर्थ हैं वे हैं- गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह जय और चारित्र। ये माला है। इन्हीं मणियों के माध्यम से संवर होगा। सर्वप्रथम आती है गुप्ति। "संसार कारणात् आत्मनः गोपनं गुप्तिः।" संसार के कारणों से आत्मा की जो सुरक्षा कर देती है उसका नाम है गुप्ति। गुप् गोपने संरक्षणे वा। गुप् धातु जो है वह संरक्षण के अर्थ में आती है। गुप्ति एक ऐसा संबल है जो संरक्षण करता है। जब गुप्ति के माध्यम से कर्मों का आना रुक जाता है तभी आगे काम ठीक-ठीक बनता है। कर्मों का आना बना रहे और हम अपने गुणों का विकास करना चाहें तो वह संभव नहीं है।

गुप्ति, संवर का सबसे उत्तम साधन है। गुप्ति की प्राप्ति समिति के माध्यम से होती है इसलिए उसके साथ समिति को रखा और समिति को समीचीन बनाना चाहो तो दश लक्षण धर्म के बिना नहीं बन सकती, तो उसके बाद धर्म को रखा और दशलक्षण धर्म की यदि हम सही-सही पालन करना चाहें, उत्तमता प्राप्त करना चाहें तो बारह भावनाओं का चिन्तन करेंगे तभी उत्तमता आयेगी। बारह भावनाओं का चिन्तन कहाँ करें? एयरकंडीशंड मकान में बैठकर, या जहाँ पंखा चल रहा हो, कूलर चल रहा हो, हीटर लगे हों, रेडियो भी चल रहा हो, वहाँ हो सकता है क्या? ऐसा नहीं है, बारह भावनाओं का चिन्तन करना चाहो तो उसके योग्य बाईस परिषह अपनाने होंगे।

बिना बाईस परीषह सहे बारह भावनाओं का चिन्तन उसी प्रकार है जैसे कोई तकिया लगा कर के बैठा है और ऊपर छत्र लटक रहा है और वह कह रहा है कि राजा राणा छत्रपति- और छत्र हिल जाये तो चौंककर देखने लगता है कि कौन चोर आ गया छत्र चुराने के लिए। यह तो एक प्रकार से बारह भावनाओं का अविनय हो गया। एक नाटक जैसा हो गया। एक पाठ हो गया। ऐसा तो तोता भी रट लेता है। बारह भावनाएँ जो संवर की कारण मानी गयी हैं उनको कैसे पढ़ना चाहिये, कैसे चिन्तन करना चाहिए। तो यह बाईस परिषह सहन करते हुए करना चाहिये और बाईस परिषह, बिना चारित्र के सहन करना संवर की कोटि में नहीं आयेगा।

चारित्र के बिना आप बाईस क्या, बाईस सौ परीषह भी सह लेंगे लेकिन वे परीषह नहीं कहलायेंगे। चारित्र धारण करने के उपरान्त ही परीषह, परीषह कहलाते हैं। सही-सही रूप में तो चारित्र के माध्यम से ही इन्हें प्राप्त किया जा सकता है। कहा भी है 'एतेषाम् गुप्तयादीनां संवर क्रियायाः साधकतमत्वात् करण निर्देशः'- संवर के लिए इसके अलावा और कोई साधकतम कारण